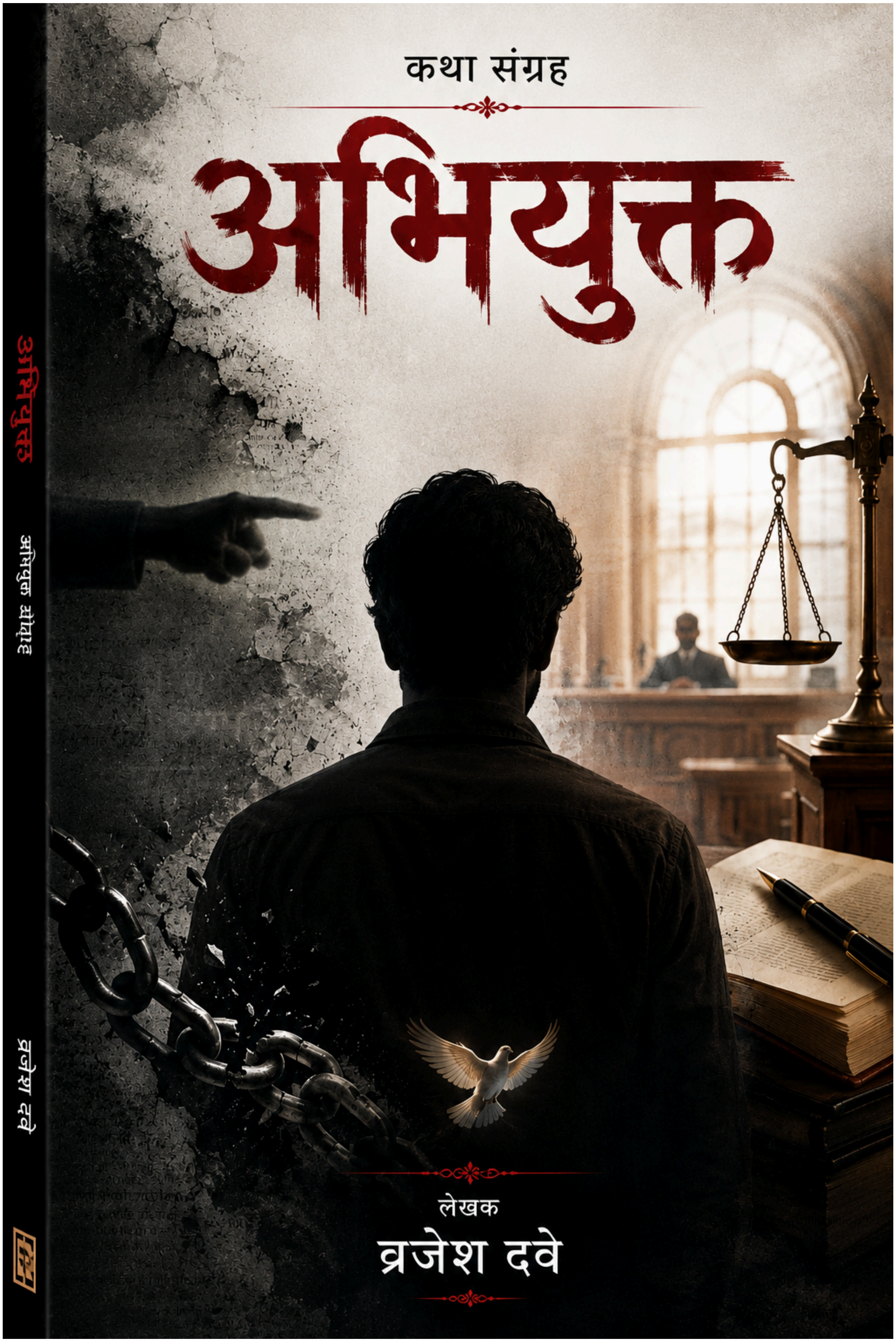

कथा संग्रह
अभियुक्त
लेखक
व्रजेश दवे

अभियुक्त

(कथा संग्रह)

व्रजेश दवे

ABHIYUKTA

(Collection of Hindi Short Stories)

VRAJESH DAVE

प्रकाशक-

@व्रजेश दवे,

95108 45218 / 94260 41107

dave.vrajesh@gmail.com

समर्पण

उन सभी अभियुक्तों को

जिन्होंने

अपने यौवन में

प्रेमपत्र

लिखने का अपराध किया है

अभियुक्त!

शीर्षक पढ़कर आश्चर्य हो रहा है न? होना चाहिए। नहीं हो रहा हो तो मुझे आश्चर्य अवश्य होगा।

हाँ, मैं स्वयं को अभियुक्त मानता हूँ। क्योंकि, मैंने कृत्य ही ऐसा किया है जीसे अपराध कह भी सकते हो। किन्तु मैं अपराधी नहीं हूँ। जब तक न्यायालय किसी को दोषित सिद्ध न कर दे, कोई भी व्यक्ति अभियुक्त ही रहेगा। और निर्दोष सिद्ध होने पर वह अभियुक्त भी नहीं रह जाएगा।

तो मैंने इस कहानी संग्रह की कथाओं का सर्जन करने का अपराध किया है। क्या मेरा यह कृत्य अपराध है? या नहीं? इसका निर्णय पाठकों के न्यायालय में मैं रख देता हूँ। जब तक आप मेरा अपराध सिद्ध नहीं कर देते, मैं अभियुक्त ही रहूँगा, मेरा यह कहानी संग्रह भी।

इसमें अभियुक्त नाम की एक कथा भी है। जो मेरे विरुद्ध एक प्रमाण भी है। उस प्रमाण के आधार पर आप मेरा न्याय करोगे ऐसी मुझे अपेक्षा है, आकांक्षा भी है। उपरांत इसके, अन्य सातों कथाओं में भी कहीं न कहीं मैं उपस्थित हूँ। कैसे? वही तो आपको खोजना है।

धन्यवाद।

- व्रजेश दवे

95108 45218 / 94260 41107

dave.vrajesh@gmail.com

अनुक्रम -

[01] कोई कुछ नहीं सिखाता

"हमने सारे गाँव में खोजा और दादाजी यहाँ गाँव के छोर पर अकेले बैठे हैं?" युवती ने युवक से कहा। दोनों उस वरिष्ठ व्यक्ति के समीप गए।

"दादाजी, आप यहाँ क्या कर रहे हो?"

"वहाँ अभी अभी सभी परिवारजनों की सभा सम्पन्न हुई है। आप वहाँ से चले क्यों आए?" दादाजी मौन ही रहे। वे कहीं दूर क्षितिज में देख रहे थे।

"दादाजी, कुछ कहो न? आप सदा मौन क्यों रहते हो?"

"आज तीसरा और अंतिम दिन है हम सबके मिलन का। इन तीन दिनों में हमने आपको कुछ भी बोलते हुए नहीं सुना।"

दादाजी ने उस बात पर ध्यान दिया किन्तु स्मित देते हुए मौन ही रहे।

"आप जानते हैं, उस सभा में सभी ने अपनी अपनी बातें कही। सभी ने अपने अपने अनुभवों से सफलता के कुछ न कुछ गुरु मंत्र दिए। और आप उस सभा में आए ही नहीं?"

"यदि सभा मे आता तो भी मैं कुछ बोलता नहीं।" दादाजी ने कहा।

"क्या आपके पास बोलने के लिए कुछ भी नहीं है? या आप अपने जीवन में कभी सफल ही नहीं हुए?"

दादाजी ने पुन: स्मित दिया।

"ऐसा तो नहीं है। मैंने सुना है कि आप भी अपने क्षेत्र में सफल ही नहीं रहे अपितु अपने विषय का विशेष ज्ञान भी रखते हैं। मैंने ठीक सुना है न?"

"ऐसी बात है तो दादा जी को अपनी बात सबके सामने रखनी चाहिए थी। दादा जी की बातों से भी हमें ज्ञान और प्रेरणा मिलती।"

"किन्तु दादा जी उस सभा में ही नहीं आए। दादा जी, ऐसा क्यों करते हैं आप?"

“दादा जी सभा में आए थे। मैंने देखा था। कुछ समय रुके भी थे। बैठे थे मौन होकर। मैंने उनका मौन देखा था।”

“कैसा था वह मौन?”

“मौन स्वयं कुछ कह रहा था किन्तु न तो मैं उसे समज सका न और कोई।”

“तो ये कारण है कि दादा जी सभा छोड़कर यहाँ चले आए। किन्तु कोई मौन को कैसे समज सकता है?”

“जब कोई मनुष्य बोलने के समय भी मौन रहता है तब वह मौन ही सबसे अधिक बोलता है।”

“हम आपके मौन को शब्दों के द्वारा सुनना चाहते हैं। हमें सुनाओगे न?”

“इतना तो, बच्चों के लिए, दादा जी कर सकते हैं।”

दादा जी ने उन शब्दों को सुना।

“बोलने का अर्थ तब होता है जब कोई उसे सुनने को तत्पर हो। आप दोनों की तत्परता को मैं देख सकता हूँ।”

“उस सभा में भी सभी तत्पर थे।”

“नहीं, उस सभा में जो भी परिजन थे वे सब के सब सुनने को नहीं, अपनी बात कहने को तत्पर थे। बोलनेवाला बोल रहा था। बाकी सभी प्रतीक्षा में थे कि कब मेरी बारी आए और मैं बोलूँ। वहाँ सभी बोलनेवाले थे, सुननेवाला कोई नहीं था।”

“तभी आप मौन रहकर उस सभा से सरक गए?”

“एक कारण और भी है।” दादा जी रुक गए। दोनों प्रश्न दृष्टि से दादाजी को देखने लगे। गहरी सांस लेते हुए कहा, “मैं वो बात नहीं करता जिसकी सब को अपेक्षा होती है। अपेक्षा से विपरीत बात सुनना किसी की रुचि नहीं होती।”

“कैसी बातें?”

“मैं सफलता के उपदेश नहीं देता। न ही उसके लिए कोई गुरु मंत्र देता हूँ।”

“अर्थात आप अपनी सफलता का रहस्य किसी को बताना नहीं चाहते। क्यों?”

“सफलता का कोई रहस्य नहीं होता, न ही कोई गुरु मंत्र होता है।”

“ये आप क्या कह रहे हैं?”
“वही जो अपेक्षा से विपरीत है।”
“अभी अभी तो उस सभा में सभी ने अपनी अपनी सफलता की कुंजी बताई। उन्हें सुनकर हमारा अच्छा मार्गदर्शन भी हुआ।”
“और हमें कुछ करने की प्रेरणा भी मिली।”
“उससे हमारा लाभ ही हुआ न?”
“वह मैं नहीं जानता। किन्तु मैंने कहा न कि मैं अपेक्षा से विपरीत बात करता हूँ।”
“क्या सफलता का रहस्य जानने की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए?”
“सफलता का कोई रहस्य नहीं होता, यही बात तो मैंने कही।”
“ऐसा कैसे हो सकता है? वे सब उसी से तो सफल हुए हैं। क्या वे मिथ्या कह रहे हैं?”
“वे सत्य भी तो नहीं कह रहे हैं।”
“सत्य क्या है?”
“सफलता केवल संयोग होती है। सबके संयोग भिन्न भिन्न होते हैं। तो जिस कुंजी से मैं सफल हुआ वह कुंजी आपके या अन्य किसी के भी काम आ सके ऐसा आवश्यक नहीं है।”
“किन्तु प्रेरणा तो मिल सकती है न?”
“प्रेरणा? बड़ी सुंदर छलना है प्रेरणा। कब हाथ से छूट जाए, कह नहीं सकते।”
“आप हमें निराश कर रहे हो, दादा जी।”
“नहीं, वास्तविकता कह रहा हूँ। सफलता की कुंजी या किसी से प्रेरणा आदि से काम नहीं चलता। हमें अपना मार्ग स्वयं चुनना पड़ता है। मार्ग की बाधाओं को स्वयं ही दूर करना होता है। किसी के साथ जो हुआ और उससे उसने जो मार्ग निकाला वह तुम्हें अपने मार्ग की बाधाओं को दूर करने में काम आ सकता है ऐसा मानना ही छलना है।”
“कुछ समज नहीं आया।”

“सब की अपनी अपनी पीड़ा होती है, सब के अपने अपने उपचार होते हैं। सभी पीड़ाओं का एक ही समाधान कैसे हो सकता है?”

“थोड़ा थोड़ा समज आ रहा है।”

“आप इसे विस्तार से समझाओगे तो पूरी बात भी समज आ जाएगी।”

“ये सब ऊपर जाने की बातें हैं। मैं तो नीचे उतरने की बात कर सकता हूँ। सुनोगे क्या?”

“क्या होता है नीचे उतरना?”

“यही तो है अपेक्षा से विपरीत बात।”

“जो भी हो, हम आपकी बात सुनना चाहते हैं। सुनाइए न?”

“ठीक है, सुनाऊँगा। किन्तु यहाँ नहीं, वहाँ ऊपर।” उसने दूर दिख रही छोटी पहाड़ी की तरफ संकेत किया।

“चलोगे उस पहाड़ी पर?”

“अभी अभी तो आप नीचे उतरने की बात कर रहे थे, और अब पहाड़ी पर चड़ने की बात कर रहे हो?”

“नहीं, मेरा कोई मति भ्रम नहीं हुआ है।”

“तो?”

“उतरने के लिए प्रथम चड़ना तो पड़ेगा न?”

दोनों ने अपने शीश हिलाए। कुछ क्षण दोनों दादाजी को देखते रहे। पश्चात पहाड़ी को देखकर बोले, “उस पर? इस आयु में आप ऊपर चड सकोगे?”

“जो नीचे उतरना जानता है उसे ऊपर चड़ने से कोई रोक नहीं सकता।” वे हंसने लगे। दोनों भी दादाजी के साथ हंसने लगे।

“ठीक है, चलो।” दोनों चलने लगे।

“रुको। ऊपर जाने के लिए कुछ तैयारियां नहीं करोगे?”

“कैसी तैयारी?

“वहाँ आने जाने में समय लगेगा तो कुछ पानी और खाने के लिए कुछ साथ ले लें?”

“और जूते भी तो पहनने पड़ेंगे।”

“और मैं लाठी भी ले लेता हूँ।”

“छाता या रैन कोट भी लेते आना।” दोनों चले गए। कुछ समय पश्चात आवश्यक वस्तुओं के साथ लौट आए। तीनों चलने लगे। सँकरे पथ पर चलते चलते पहाड़ की तलहटी तक आ गए।

“तो ऊपर चलें?”

“किन्तु यहाँ सीढ़ियाँ तो है ही नहीं।”

“यह तो अपेक्षा ही नहीं थी।”

“तो हमें कच्चे मार्ग से ऊपर चलना होगा। ठीक है। मैं प्रथम चलती हूँ। आप दोनों मेरे पीछे पीछे चले आइए।”

“रुको।” दादाजी ने रोका।

“क्या हमें ऊपर नहीं जाना है?”

“ऊपर ही जाना है।”

“तो रुकना क्यों है?”

“देखो, इस पहाड़ी पर जाने के लिए कोई सोपान नहीं है। तो..।”

“तो आप ऊपर चड नहीं पाओगे। कोई बात नहीं। हम ऊपर जाकर आते हैं।”

दोनों एक साथ चलने लगे।

“पूरी बात सुनने का धैर्य किसी के पास कहाँ है?’”

दोनों रुक गए।

“ओह । क्षमा करें। हमें पूरी बात सुन लेनी चाहिए थी।”

वह मौन हो गई। दोनों दादाजी की बात सुनने को तत्पर हो गए।

“हम तीनों को पहाड़ी के शिखर पर जाना है। किन्तु हमें अपने अपने मार्ग स्वयं चुनने हैं। भिन्न भिन्न मार्ग से चलते हुए हम ऊपर शिखर पर मिलते हैं।”

दादाजी ने एक पगडंडी खोज ली और उस पर चलने लगे।
“मैं इस मार्ग को चुनता हूँ। और तुम?” युवक ने भी मार्ग खोज लिया।
“मैं तुम्हारे मार्ग के समीप जो कच्चा मार्ग है उस पर चलूँगी।”
“ठीक है, कुछ आवश्यकता पड़े तो बुला लेना। मैं आ जाऊंगा।”
“और तुम भी।”
दोनों अपने अपने मार्ग पर चल दिए।

# # #

“शिखर पर तो आ गए किन्तु थका दिया इसने।” वह एक पत्थर पर बैठ गई।
“थोड़ा पानी पी लो।” युवक ने पानी धर दिया। वह पानी पीने लगी। चारों तरफ देखने लगी।
“तुम भी थोड़ा पानी पी लो। लो।” युवक ने पानी पिया।
“दादाजी कहाँ रह गए?”
“देखता हूँ। कहीं नीचे तो नहीं रह गए?”
वह पहाड़ी के उस भाग को देखने लगा जिस भाग से दादाजी ऊपर आनेवाले थे।
“अरे, वे तो वहाँ बैठे हैं। चलो, उनके पास चलते हैं।”
दोनों दादाजी के पास गए।
“आप कब पहुंचे? मार्ग कैसा रहा?”
“यहाँ आओ। यहाँ से नीचे देखो।” दादाजी ने कहा।
तीनों नीचे देखने लगे। एक ही दृश्य को तीनों भिन्न भिन्न दृष्टि से देखने लगे। तीनों के मुख पर उस दृश्य का प्रभाव था जो भिन्न भिन्न था। कुछ समय तक तीनों मौन रहते उसे देखते रहे। प्रकृति को मुग्धता से निहारते रहे।
“कितना अद्‌भुत दृश्य है!” वह बोली। “मन तो करता है बस इसे देखती रहूं।”
दादा जी ने कोई प्रतिभाव नहीं दिया।

“यह सुगंध कैसी है?” युवक ने एक सुगंध को अपने भीतर खींचते हुए कहा।

“वैसे सुगंध तो आ रही है किन्तु अपरिचित सी क्यों है? ये किसकी सुगंध हो सकती है?” युवती ने भी नाक के भीतर सुगंध को उतारा।

युवक आस पास किसी पुष्प को खोजने लगा।

“यहाँ कोई पुष्प नहीं है, मैं देख चुकी हूँ।”

“तो इस सुगंध का रहस्य क्या हो सकता है?”

दोनों दादाजी से उत्तर चाहते थे किन्तु दादाजी मौन थे।

“चलो इस सुगंध का स्रोत ढूंढते हैं।” दोनों इधर उधर गए और कुछ ही क्षणों में लौट आए।

“क्या यह सुगंध सफलता की है?”

“किस सफलता की बात कर रही हो?”

“इस शिखर पर पहुंचने की सफलता?”

“हो सकता है। सफलता की सुगंध सदा अपरिचित ही होती है।” दादाजी ने दोनों के कंधों पर हाथ रख दिया।

“हम यहाँ क्यों हैं? वहाँ चलते हैं न? उस तरफ?”

“यहाँ से सूर्यास्त दर्शन मनोहर होगा।” दादाजी ने कहा।

“क्या हम यहाँ सूर्यास्त देखने आए हैं?”

“डूबते हुए को देखना संसार की रुचि होती है। तभी तो सब सूर्यास्त देखते हैं।”

“अब कुछ काम की बातें करें, दादाजी?” युवक बोल पड़ा।

“अर्थात इस स्थान के सौन्दर्य से मन भर गया, है न?” दादा जी के अधरों पर स्मित था। युवक कुछ उत्तर नहीं दे पाया।

“ठीक है, तो अब कुछ काम की बातें करते हैं।” दोनों प्रकृति को छोड़कर दादाजी की तरफ मूड गए।

“मैं कुछ पूछ सकती हूँ?”

“पूछो।”

“हमारा लक्ष्य एक ही था, तो हम तीनों के लिए भिन्न भिन्न मार्ग क्यों?”

“मैं बताऊँ?” युवक उत्साह से बोल पड़ा।

दादाजी ने सहमति दी।

“पहाड़ी के शिखर की भांति जीवन की सफलता का लक्ष्य भी सभी का एक ही होता है किन्तु एक ही मार्ग पर चलते हुए सभी उसे पा नहीं सकते।”

“तो इसलिए भिन्न भिन्न मार्ग चुना हमने?”

दादाजी के मुख पर स्मित था, दोनों के तर्क सुनते हुए। वे सुनते रहे।

“भिन्न मार्ग लेने से क्या हुआ?”

“सभी के अनुभव भी भिन्न ही रहे होंगे? हैं न दादाजी?”

“तो दादाजी आपका अनुभव कहो न?”

“मेरा मार्ग खुला था। हवा बड़े वेग से चल रही थी। कभी कभी संतुलन खो जाता था। और आप दोनों के साथ क्या हुआ?”

“मेरे मार्ग में एक स्थान पर पैर रखते ही एक बड़ा सा पत्थर नीचे सरकने लगा। मैं भी उसके साथ थोड़ा नीचे सरक गई किन्तु दूसरे पत्थर पर हाथ पडा और मैं रुक गई। उठी, संभली और चल पड़ी।”

“इसने जो पत्थर गिराया था व मेरे मार्ग के एक वृक्ष से टकरा गया जिसकी शाखा और पत्ते मेरे पर गिरे। मुझे चोट आई किन्तु मैं भी संभलकर उठा और चड़ने लगा। इसके कारण यह सब हुआ।”

“मैंने जानते हुए तो ऐसा नहीं किया था।”

“हमें किसी को दोष नहीं देना चाहिए। बाधाएं मार्ग की नियति होती हैं, बस किसी न किसी को निमित्त बना देती है।”

“इन बाधाओं के होते हुए भी हम शिखर तक आ ही गए न?”

“सफलता इस शिखर जैसी स्थिर, अटल होती है। हमें ही वहाँ तक जाना होता है। बाधाओं को पार करके।” दादाजी ने कहा।

“तो कहो आपने बाधाओं को कैसे पार किया?”

"मैंने तो..।"

"नहीं, तुमने जो किया वह छोड़ दो। यह बताओ कि उस समय तुमने जो भी निर्णय लिया वह कैसे लिया? क्या उस समय किसी के प्रेरणात्मक प्रवचन या उपदेश का स्मरण करते हुए निर्णय लिया? या उनकी बताई हुई सफलता की कुंजी का प्रयोग किया?"

"कैसी बात कर रहे हो? उस समय उनमें से किसी का स्मरण भी नहीं हो सका था।"

"हाँ तुम ठीक कह रही हो। मुझे भी ऐसा कुछ स्मरण नहीं आया था।"

"मैंने तो तत्काल जो सुझा वही निर्णय ले लिया। बाधा को पार कर ली और पहुँच गई यहाँ।"

"और मैंने भी।"

"अर्थात संकट के समय निर्णय लेना ही मुख्य बात होती है। किन्तु वह निर्णय मिथ्या सिद्ध होता तो?"

"सत्य सिद्ध होने पर उसे हम सफलता की 'कुंजी' या 'रहस्य' नाम देकर सबको बताते फिरते।"

"और मिथ्या सिद्ध होने पर?"

दोनों ने पुन: दादाजी से उत्तर जानना चाहा।

"यदि वह निर्णय मिथ्या हो जाए तो उसे 'सीखना' या 'प्रयोग' कहकर मन मना लेते हैं हम।" दादाजी हंसने लगे।

"चलो अब यह बताओ कि यहाँ आकर कैसा लग रहा है?"

"मुझे तो प्रसन्नता हो रही है, तुझे?"

"मैं भी हर्ष से भरी हूँ।"

"आप दोनों के हर्ष का कारण?"

"यहाँ तक की सफल चड़ाई।"

"और यहाँ का प्राकृतिक परिवेश।"

"तो यहीं रुक जाते हैं, सदा के लिए?"

दादाजी का प्रश्न सुनकर दोनों चौंक गए।

"ऐसे कैसे सदा के लिए यहाँ रुक सकते हैं?"

"क्यों नहीं हो सकता? अभी तो आप दोनों इस स्थान से प्रसन्न हो रहे थे। जहां प्रसन्नता हो वहीं तो मनुष्य रहना चाहता है।"

"किन्तु इस शिखर पर?"

"शिखर से सबको कभी न कभी नीचे तो उतरना ही पड़ता है न? कोई यहाँ स्थायी नहीं रह सकता, दादाजी।"

"तो थोड़ा जलपान कर लेते हैं और नीचे उतरते हैं।" सब ने जलपान किया और नीचे उतरने को सज्ज हो गए।

"नीचे तो एक साथ ही उतरेंगे या भिन्न भिन्न मार्ग से?"

"यह निर्णय मैं आप दोनों पर छोड़ता हूँ।"

दादाजी नीचे उतरने लगे। वे दोनों भी। तीनों आ गए तलहटी पर।

"नीचे उतरने में, ऊपर चड़ने में जो समय लगा था उनसे तो कहीं अल्प समय लगा।"

"हाँ, समय तो अल्प लगा किन्तु ऊपर जाने में जो कष्ट हुए थे उसकी तुलना में कष्ट अधिक हुआ।"

"तो बताओ कि ऐसा क्यों हुआ?" दादाजी का प्रश्न दोनों को विचारने के लिए विवश कर गया।

कुछ खसन कोई कुछ नहीं बोला।

सहसा युवक बोला, "मुझे लगता है कि हमने ऊपर चड़ने की पूरी तैयारी की थी किन्तु नीचे उतरने की कोई सज्जता ही नहीं की थी।"

"तो क्या हम भूल गए थे कि हमें नीचे भी उतरना है?"

"सफलता के मद में सभी के साथ ऐसा ही होता है क्या?"

"अधिकांश यही होता है।"

“अब कुछ कुछ बातें स्पष्ट हो रही है।

एक - चड़ने के पश्चात उतरना ही नियति है।

दो - उतरने में अल्प समय लगता है क्यों कि उतरने की गति तीव्र होती है।

तीन - उतरने में ही अधिक कष्ट होता है।

चार - उतरने की कोई तैयारी ही नहीं करता।”

“पाँचवीं बात मैं बताती हूँ; यह आवश्यक नहीं कि जिस मार्ग से चड़े थे उसी मार्ग से ही उतरेंगे। दोनों मार्ग भिन्न भी हो सकते हैं।”

“तुम ठीक कह रही हो।”

“किन्तु उतरने की कला तो कोई सिखाता ही नहीं?”

“इस कला के अज्ञान से ही उतरने के समय कष्ट होता होगा।”

“अरे, आपने तो हमें उतरने की कला सीखा ही दी।”

“नहीं, मैंने कोई बात नहीं सिखाई। वास्तव में कोई किसी को कुछ भी नहीं सिखाता। सब अपने अपने समय पर स्वयं सिख जाते हैं। सब की अपनी अपनी गति, नियति, क्षमता और संयोग होते हैं। वही तो सब कुछ सिखाते हैं।”

“दादाजी, आपने आज हमें जो अद्‍भुत बातों से परिचय करवाया उनसे सबका परिचय क्यों नहीं करवाते?”

“करवाता ही हूँ।”

“किन्तु आप तो कुछ नहीं बोलते?”

“मैं लिखता हूँ।”

“कहाँ लिखते हो? क्यों लिखते हो? बोलते क्यों नहीं हो?”

“मैं पुस्तकें लिखता हूँ और डिजिटल माध्यम से पाठकों तक पहुंचता हूँ। मैं पूर्व में भी कह चुका हूँ की कोई सुनता ही नहीं इस लिए बोलता नहीं हूँ।”

“तो क्या लोग पुस्तकें पढ़ते हैं?”

“डिजिटल माध्यम पर जाकर स्वयं देख लो।”

दोनों ने डिजिटल माध्यम पर दादाजी की पुस्तकें देखि।

“ओह। इतने सारे पाठक हैं आपके? क्या बात है?”
“हजारों लोग पुस्तकें क्यों पढ़ते हैं?”
“यह सबसे अच्छी बात पूछी है आपने। सुनो। जब कोई व्यक्ति पढ़ता है तब केवल पढ़ता ही है। अपने बोलने के क्रम की प्रतीक्षा नहीं करता होता है। वे पढ़ना जानते हैं इसलिए पढ़ना अधिक प्रभावी होता है।”
दोनों पुस्तक का कोई अंश पढ़ने लगे-
““ऊपर चड़ना सफलता है। किन्तु एक बिन्दु के पश्चात वह सफलता धुंधली पड जाती है और हम नीचे की तरफ गति करते हैं। वह गति तीव्र होती है। तब हमें संतुलन बनाये रखना होता है। किन्तु हम वह खो देते हैं क्यों कि हम नीचे उतरना नहीं चाहते, ना ही जानते हैं। वह मार्ग हमारे लिए अज्ञात होता है। उस मार्ग से हमारा किसीने परिचय ही नहीं कराया, कभी। क्या आप उस मार्ग से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं?” वे आगे पढ़ते गए। उन्होंने पुस्तक बंद कर दी।
“तो आप कैसे नीचे उतरे थे?”
“पूरे मौन के साथ, पूर्ण एकांत के साथ मैं नीचे उतर आया था। धीरे धीरे, बिना किसी कोलाहल के, बिना किसी को बताए। रोज रोज थोड़ा थोड़ा उतरता रहा और एक दिन मेरे पैर धरती पर थे।”
दादाजी धीरे धीरे नदी के समीप गए और नदी के बहते जल में पैर रखकर बैठ गए। जल की शीतलता समग्र शरीर में व्याप्त हो गई। वे दोनों भी दादाजी के समीप बैठ गए।

अस्तु ।

[02] दो दो शून्य

अपने शयन कक्ष में सोने जा रही नववधू से सासु ने कहा, “बेटा, कल हम सब मंदिर चलेंगे। प्रात: सात बजे आरती होगी और पश्चात पूजा अर्चना भी होगी। तुम दोनों समय पर तैयार हो जाना।”

“ठीक है, माँ। कल कौन सा त्यौहार है? या कोई उत्सव है मंदिर में?”

“बेटा, कल जो है न वह हमारे लिए त्यौहार भी है, उत्सव भी है।”

“तो कल कुछ विशेष बात है, हैं न माँ?”

“हाँ। विशेष से भी विशेष है।”

“ऐसा क्या है, कहो ना?”

“कल तुम्हारा जन्मदिन है बेटा। इससे बढ़कर त्यौहार कोई हो सकता है क्या?”

“मेरा जन्मदिन? नहीं माँ, मेरा जन्मदिन कल नहीं है। आप कुछ भूल रही हो।”

“नहीं, मैं कुछ नहीं भूल रही हूँ। मुझे पूरा स्मरण है कि तुम्हारा जन्मदिन कल ही है।”

“नहीं माँ, मेरा जन्मदिन तो सात दिनों के पश्चात है, कल नहीं।”

“सात दिनों के पश्चात तो तुम दोनों का जन्मदिन है। तुम्हारा और तुम्हारे पति का।”

“माँ, आप भी न कैसी बातें कर रही हो? सात दिन के पश्चात मेरा जन्मदिन है और आपके बेटे का जन्मदिन मेरे जन्मदिन के भी पाँच दिन पश्चात है।”

“हाँ जानती हु। बारह दिनों के पश्चात तुम्हारे पति का जन्मदिन है।”

“तो यही निष्कर्ष हुआ न कि सात दिनों के पश्चात मेरा और बारह दिनों के पश्चात आपके बेटे का जन्मदिन है। कल कुछ भी नहीं है, न ही मेरा जन्मदिन है। क्या माँ, आप भी?”

“नहीं, यह निष्कर्ष नहीं निकलता है।”

“क्यों? अब क्या है? अभी तो आप ही ने कहा कि ..?”

“हाँ, मैंने ही कहा है कि सात दिनों के पश्चात तुम दोनों का और बारह दिनों के पश्चात तुम्हारे पति का जन्मदिन है। साथ साथ यह भी कहा कि कल तुम्हारा, तुम अकेली का जन्मदिन है।”

“वही बात? माँ आप थक गई हो, इसलिए ऐसी बातें कर रही हो। आपको विश्राम की आवश्यकता है। आप सो जाइए। मैं शैया सजा देती हूँ। और आपके माथे को भी दबा देती हूँ। आपको अच्छा लगेगा।”

“नहीं बेटा, मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम सो जाओ, मैं भी सो जाती हूँ। प्रात: मंदिर जाने के लिए समय पर तैयार हो जाना। ठीक सात बजे आरती होगी, हमें साढ़े छ: बजे पहुंचना है।”

“ठीक है माँ। नमो नम:।”

वह अपने शयन कक्ष में चली गई, माँ भी।

कक्ष में जाकर देखा तो पति निंद्राधिन हो चुका था। वह भी सोने का यत्न करने लगी किन्तु उसे नींद नहीं आई। वह माँ की बातों पर विचार करने लगी। अपने जन्मदिन का स्मरण करने लगी।

अंतत: वह उठी और अपने तथा अपने पति के जन्म प्रमाण पत्रों को पढ़कर मन में संतुष्ट हो गई कि उसका जन्मदिन सात दिनों के पश्चात है और उसके पति का जन्मदिन बारह दिनों के पश्चात ही है। कल किसी का भी जन्मदिन नहीं है। इतनी संतुष्टि कर लेने पर भी उसे निंद्रा नहीं आई।

‘माँ ने ऐसा क्यों कहा? क्या माँ से कोई भूल हो रही है या माँ का मतिभ्रम हो गया है? लगता है माँ की वृद्धावस्था आ गई है। इस आयु में ऐसा होना सहज है।’

ऐसी बातों पर वह विचार करती रही, रात्री भर जागती रही। उसका मन माँ को लेकर व्याकुल होने लगा। जब वह अधिक चिंतित हो गई तो उसने पति को जगा दिया।

“क्या है? तुम्हें सोना नहीं है क्या? मुझे तो सोने दो।”

“सुनो, मुझे माँ की चिंता हो रही है। इसीलिए मैं सो नहीं पा रही हूँ।”

इतना सुनते ही पति जागकर बैठ गया।

“क्या? क्यों? माँ को क्या हुआ?” वह उठकर माँ के कक्ष में जाने लगा।

“रुको, रुको। बैठो यहाँ। माँ को वैसे तो कुछ नहीं हुआ है। माँ अभी तो स्वस्थ है।”

“वैसे कुछ नहीं हुआ है, स्वस्थ है। क्या अर्थ है इसका?” पति का स्वर ऊंचा हो गया। वह रुक गया। पत्नी को देखने लगा।

“तुम बैठो यहाँ। मैं सब बात बताती हूँ।”

वह पत्नी के समीप बैठ गया। उसके मुख पर चिंता, विषाद, उत्तेजना और प्रश्न के मिश्रित भाव आ गए।

“माँ कह रही है कि कल मेरा जन्मदिन है। किन्तु मेरा जन्मदिन तो सात दिनों के पश्चात है। मैं ठीक कह रही हूँ न?”

पति ने क्षणभर स्मरण कर कहा, “हाँ। तुम्हारा जन्मदिन सात दिनों के पश्चात ही है। तुमने माँ को बताया नहीं?”

“यही तो मैंने माँ को बताया किन्तु वह अपनी बात पर टीकि रही और यह भी कहा कि कल प्रात: मंदिर जाना है, पूजा- अर्चना- आरती के लिए।”

“कल?”

“हाँ, कल।” और पत्नी ने पूरी बात पति को बता दी।

“अब तुम ही कहो। माँ की स्थिति कुछ ठीक लगती है क्या?”

पति कुछ क्षण विचार करता रहा पश्चात हंस पड़ा।

“तुम अभी सो जाओ। माँ को कुछ नहीं हुआ है। और हाँ, प्रात: हमें मंदिर भी जाना है, चलो सो जाओ अब।”

“किन्तु..?”
पति ने उसकी बात नहीं सुनी और वह सो गया। वह रात भर जागती रही।
प्रात: समय पर सब मंदिर पहुँच गए।
“जाओ बेटा, आप दोनों नदी से जल भरकर आओ। यह कलश लेते जाओ। उसी जल से महादेव जी का जलाभिषेक होगा।”
पत्नी के मन में अभी भी संशय था। वह क्षण भर खड़ी रही। पति ने कलश उठाया और उसका हाथ पकड़कर चलने लगा। वह भी पति के साथ अनमनी सी चलने लगी। दोनों नदी के तट पर आ गए।
“मैं कुछ समजे बिना, कुछ बोले बिना आज सब कुछ वही कर रही हूँ जो माँ कह रही है। किन्तु अभी भी कहती हूँ कि मेरा जन्मदिन आज नहीं है।” नदी के तट पर रुकते हुए वह बोली। नदी के बहते जल को निहारने लगी।
पति ने कुछ नहीं कहा। वह कलश भरने के लिए नदी पर झुका। पत्नी ने उसे देखा। वह उसके समीप गई।
“क्या अब भी तुम मौन ही रहोगे? माँ की स्थिति पर कुछ विचार नहीं करोगे? उसके उपचार के विषय में कुछ तो करना पड़ेगा।”
पति हंस पड़ा।
“इतनी गंभीर बात पर भी तुम हंस रहे हो? तुम्हें माँ की कोई चिंता नहीं हो रही है? कैसे बेटे हो तुम?”
वह पुन: हंसने लगा। उसके ऐसे व्यवहार से वह व्याकुल हो उठी। उसने मोबाईल लिया और डॉक्टर से संपर्क करने ही जा रही थी कि पति ने उसे रोका।
“क्या कर रही हो? माँ को कुछ नहीं हुआ है।”
“तो?”
“माँ ने जो कुछ कहा है वह सब सत्य ही है।”
“सत्य? कैसे सत्य हो सकता है? मैंने कल रात्री मेरे और तुम्हारे जन्म प्रमाणपत्र देख लिए हैं। उसके अनुसार माँ का कहना सत्य नहीं है।”

“इस नदी के बहते जल में पैर रखकर यहाँ खड़ी हो जाओ, मेरे समीप। मैं सब कुछ समझाता हूँ।”

वह पति के समीप गई। नदी के जल का स्पर्श उसे अच्छा लगा।

“तुम्हारा जन्मदिन इस महीने की नौ दिनांक को है। ठीक है?”

“यही तो मैं कह रही हूँ। और आज तो तीन दिनांक है।”

“हाँ, आज दिनांक तीन है।”

“तो आज मेरा जन्मदिन नहीं है, सिद्ध हो गया। जाकर माँ को बता दो यह बात और माँ के उपचार का विचार करो। हमें उस पर आज ही कुछ करना होगा।”

उत्तेजना में वह नदी से बाहर निकल गई।

पति पुन: हंसा। उस पर वह अधिक रोष से भर गई।

“तुम्हें माँ की चिंता न हो तो न सही, मुझे है। मैं माँ का अच्छे से उपचार करवाऊँगी। आज ही। तुम मुझे अब रोकना नहीं।” वह मंदिर की तरफ चलने लगी। पति ने उसका हाथ पकड़ लिया। उसे रोक लिया। पत्नी ने उसके सामने तीव्र दृष्टि से देखा। उसकी आँखों में कुछ ऐसी अग्नि थी जो किसी को भी तत्काल भस्म करने का सामर्थ्य रखती थी। पति उस अग्नि को अपने स्मित से, आँखों के कोमल भावों से सहता रहा। वह उसे पुन: नदी के जल में ले गया। धीरे धीरे वह अग्नि शांत हो गया।

“सुनो, अब मेरी बात तुम शांत चित्त से सुनो।” वह रुका। उसने पत्नी को देखा। वह शांत हो चुकी थी, पति की बात सुनने को तत्पर थी।

“अपने घर में सभी का जन्मदिन वर्ष में दो बार मनाया जाता है। कभी कभी एक बार भी मनाया जाता है।”

वह सुनती रही ध्यान से, अचरज से, जिज्ञासा से। ऊसके शब्दों को समजने का प्रयत्न भी करती रही।

“यदि दो बार मनाया जाता है तो कभी कभी एक बार क्यों? ऐसा भेदभाव क्यों?”

“ऐसा कोई भेदभाव नहीं है। प्रथम यह समज लो कि दो बार क्यों मनाते हैं। इसे समज लिया तो सब कुछ समज आ जाएगा। एक बार वाली बात भी समज जाओगी।”

“सब कुछ?”

“हाँ, सब कुछ। एक, माँ को उपचार की आवश्यकता नहीं है। दूसरा, दो बार जन्मदिन क्यों मानते हैं। और तीसरा, कभी कभी एक ही बार क्यों मनाते हैं। इन सभी बातों को तुम समज जाओगी।”

“ऐसा है? तो समजाओ मुझे।” पत्नी ने अधरों से और नयनों से कटाक्ष तीर पति पर छोड़े। पति ने उसे सहर्ष स्वीकारते हुए कहा।

“हमारे देश में दो तिथि पत्र का प्रयोग होता है। एक अंग्रेजी तिथि पत्र और दूसरा भारतीय तिथि पत्र।”

“तिथि पत्र?”

“केलेन्डर।”

“ओह । हाँ भारत में विक्रम संवत भी चलता है। यह मैं जानती हूँ।”

“वाह। क्या बात है!” वह रुका और पत्नी के मुख को देखा। वह शांत थी।

“तो आगे बढ़ते हैं। विक्रम संवत में भारतीय महीनों की तिथियाँ होती हैं।”

“जैसे श्रावण सूद अष्टमी। अर्थात कृष्ण जन्माष्टमी की तिथि।”

“अरे वाह। तुम तो सब जानती हो।”

“इतना तो ज्ञान रखती हूँ मैं, मेरे प्रिय पतिदेव।” उसके अधरों पर स्मित कटाक्ष था।

“तो यह बताओ को जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ था उस दिन कौन सी तिथि थी? स्मरण कर के बताओ।”

वह प्रश्न सुनकर विचार में पड गई।

‘इस बात का तो कभी ध्यान ही नहीं रहा। प्रत्येक वर्ष मैंने अंग्रेजी दिनांक अनुसार ही जन्म दिन मनाया है। मेरा ही नहीं, माँ, पिताजी, भाई, दीदी सब का। ऐसे में तिथि का ज्ञान कैसे रहता मुझे? अब क्या? क्या उत्तर दूँ?’

वह मौन ही रही।

“तुम्हें स्मरण नहीं है या ध्यान ही नहीं है?”

“कभी किसी ने मेरी जन्म तिथि बताई ही नहीं तो मुझे कैसे ज्ञात होगी? हमारे यहाँ विक्रम संवत की तिथियों का चलन ही नहीं है।” उसकी मुख की रेखाएं तंग हो गई।

“इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, प्रिये।”

पति के इन शब्दों से उसके मुख की खींची रेखाएं शिथिल हो गई। उसे अच्छा लगा।

“दोष तुम्हारे माता पिता का हो सकता है। ऐसी बातें घर के वातावरण और परिवार की परंपरा पर निर्भर होती हैं। यदि घर में ये सब नहीं है तो बच्चों को, नई पीढ़ि को उसका ज्ञान कैसे हो सकता है?”

“मेरी माँ को तो यह सब मुझे बताना चाहिए था। मैं मेरी माँ को...।”

“शांत हो जाओ। इस समय किसी के भी दोष का निर्णय हमें नहीं करना है।”

वह शांत हो गई।

“उस दिन वही तिथि थी जो आज है। अर्थात तिथि अनुसार आज तुम्हारा जन्मदिन है। माँ यह जानती थी इसलिए माँ ने कहा कि आज तुम्हारा जन्मदिन है। बस इतनी सी बात है।”

“ये बात है? मैं तो व्यर्थ ही माँ की चिंता कर रही थी।” वह हंसी। सहसा रुक गई।

“किन्तु माँ को इतनी पुरानी बात कैसे ज्ञात हुई? क्या माँ अंतर्यामी है?” उसने संशय प्रकट किया।

“माँ ने तुम्हारी जन्म कुंडली देखी है। वह एक बार जो देख लेती है तो स्मरण कर लेती है और उसे वह कभी नहीं भूलती।”

“तो माँ को सब के जन्मों की तिथियों का स्मरण है?”
“वही तो सब की तिथियों का स्मरण हमें कराती है।”
“अब समज में आया कि छः दिन पश्चात हम दोनों का जन्मदिन एक साथ कैसे आएगा। माँ तो बड़ी ज्ञानी निकली!” सहसा वह प्रसन्न होती हुई उदास हो गई। पति ने उसके मुख के बदलते भावों को परख लिया।
“क्यों, अब क्या हो गया मेरी प्रिया को?”
“एक प्रश्न पूछूँ?” उसके शब्दों में धार थी तो आँखों में तेज। उसे सहते हुए पति बोला,
“पूछ लो। किन्तु ऐसे क्यों देख रही हो? क्या आशय है इस यौवना का?”
“आशय स्पष्ट है, उत्तर भी स्पष्ट ही देना। दे सकोगे?” इस बार शब्दों की धार अधिक तेज थी। तथापि वह सस्मित बोला, “जैसी आप की आज्ञा, श्रीमती जी।”
“माँ को सब के जन्मदिन की तिथि और दिनांक दोनों का स्मरण है। तो क्या तुम जानते हो कि माँ का जन्मदिन कब है?”
प्रश्न सुनकर वह चौंका।
“क्या? माँ का जन्मदिन?”
“हाँ। कब है माँ का जन्मदिन? दिनांक कौन सी है? तिथि क्या है?”
वह विचारने लगा। उसे कोई उत्तर नहीं सुझा। वह मौन ही रहा।
“बताते क्यों नहीं? कहो न?”
उसका मुख उदास हो गया।
“तुमको माँ का जन्मदिन ज्ञात नहीं है?”
उसने नकार में मुख घुमाया।
“कैसे बेटे हो तुम? जिस माँ को तुम्हारे, मेरे, सब के दो दो जन्मदिन का स्मरण है उसी माँ के एक भी जन्मदिन का तुम्हें ज्ञान नहीं है?” वह उग्र रोष में नदी के जल के भीतर चली गई। दूर क्षितिज में अन्यमनस्क सी देखती रही।

वह अपने आप पर लज्जित होता हुआ नत मस्तक खड़ा रहा। उसे कुछ न सुझा। कुछ क्षण मौन ही व्यतीत हो गए।

पत्नी के मन में अभी भी पति के प्रति क्रोध और तिरस्कार के भाव उमड़ रहे थे। उसने स्वयं को शांत करने का यत्न किया किन्तु वह अधिक अशांत हो गई। आँखें बंद कर नदी के जल में कुछ क्षण खड़ी रही।

सहसा उसके कंधे पर किसी ने हाथ रख दिया। उसकी तंद्रा टूटी, आँखें खोली और मुड़कर देखा।

माँ खड़ी थी प्रत्यक्ष। उसकी आँखों से आँखें मिली। माँ के स्नेह झरन में वह भीग गई। उसकी आँखों से उष्ण झरना बहने लगा। उसे कुछ न सुझा तो माँ से लिपट पड़ी। माँ उसकी पीठ पर हाथ फेरती रही। माँ ने उसे शांत होने का समय दिया। वह उन दोनों को देखता रहा।

स्वस्थ होते ही वह बोली, “माँ, मैं आपसे भी अप्रसन्न हूँ।” वह माँ से पृथक हो गई। घुटनों तक जल के भीतर चली गई। माँ ने उसका हाथ पकड़ लिया।

“क्यों बेटा? माँ से कोई ऐसे थोड़े न रूठता है।”

“आप जैसी माँ से तो रूठा जा सकता है न? मैं तो रूठूँगी ही।”

“रूठती हुई भी तुम अच्छी लगती हो। रूठने से मैं थोड़े न रोक सकती हूँ, किन्तु रूठने का कारण तो बता सकती हो न?”

वह मुड़ी, माँ की आँखों में आँखें डालकर बोली, “आपके एक भी जन्मदिन का स्मरण आपके बेटे को नहीं है। क्या आपने कभी उसे बताया नहीं? क्यों?”

उसके शब्दों की आक्रामकता का माँ ने अनुभव किया। माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

“कब है आपका जन्मदिन?” उसने पुन: पूछा।

माँ ने क्षण भर का समय लिया।

“मैं नहीं जानती मेरा जन्मदिन कब है।”

“क्या? क्या कह रही हो? आपको आपके जन्मदिन का संज्ञान नहीं है? ऐसा कैसे संभव हो सकता है? या आप उसे बताना नहीं चाहती?”

"मैं सत्य कह रही हूँ। मैं नहीं जानती। न ही मुझे इसका कोई स्मरण है।"
"न दिनांक, न तिथि? कुछ भी स्मरण नहीं है?"
"नहीं, कुछ भी नहीं।"
"जिन्हें अपने पुत्र, पुत्री, पति और कल की आई पुत्रवधू के दो दो जन्मदिनों का स्मरण है, जो कभी उन दिनांकों को और तिथियों को भी भूलती नहीं है उन्हें अपना ही जन्मदिन स्मरण नहीं है?" उसने माँ को अपने शब्दों से बेध डाला।
माँ के पास उसका कोई उत्तर नहीं था। वह मौन ही रही।
वह माँ को देखती रही, यूं ही। और वह दोनों को देखता रहा। किसी को कुछ भी बोलने का मन नहीं हुआ। समय कुछ समय के लिए स्थिर हो गया।
मंदिर के घंटनाद ने समय को प्रवाहित कर दिया। सभी मौन ही मंदिर में प्रवेश कर गए। सभी ने आरती, पूजा, अर्चना सम्पन्न की। पुजारी जी ने सब को प्रसाद देते हुए माँ से पूछा, "माई, आज किसका जन्मदिन है?"
माँ कुछ उत्तर दे उससे पूर्व ही पुत्रवधू ने कहा, "आज माँ का जन्मदिन है।"
माँ की आँखों में अश्रु आ गए। पुत्रवधू माँ से लिपट गई। बेटे की और पति की आँखों में लज्जा और प्रसन्नता के मिश्र भाव उभर आए।
पुजारी के मुख से उच्चरित आशीर्वचनों की ध्वनि सारे प्रांगण में गूंजने लगी। एक मयूर उड़ता हुआ कहीं से आकर प्रांगण में मृत्य करने लगा।

सम्पन्न

[03] दूसरा अर्थ

गोवा की होटल में जब मैं जागा तब सूर्य की किरणें अपनी कोमलता त्याग चुकी थी। शैया पर पड़े पड़े उसे दखने के लिए मैं बाईं तरफ मूडा। वह वहाँ नहीं थी। मैंने होटल के कक्ष में दृष्टि घुमाई।

वह गवाक्ष के पास ही होगी ऐसा मुझे विश्वास था क्यों कि पिछले पाँच दिनों से वह मेरे जागने से पूर्व जाग जाती थी और उसी गवाक्ष से दूर लहराते अरब सागर की तरंगों को अनिमेष देखती रहती, एकाग्र होकर तरंगों की मधुर ध्वनि को सुनती रहती।

किन्तु वह उस गवाक्ष पर भी नहीं थी। गवाक्ष के द्वार भी बंद पड़े थे।

वह स्नान गृह में ही गई होगी। अभी लौट आएगी, अपने खुले भीगे लहराते बालों को झटक देगी और गवाक्ष खोलकर समुद्र की लहरों को देखेगी, संगीत सुनेगी और उसमें खो जाएगी।

और, मैं आँखें खोलकर, मौन रहकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा।

‘यदि वह स्नान गृह में है तो पानी की ध्वनि क्यों नहीं आ रही?’ मेरे मन में प्रश्न जागा। कुछ क्षण मैंने स्नान गृह पर ध्यान केंद्रित किया।

शीघ्र ही मुझे विश्वास हो गया कि - वह स्नान गृह में भी नहीं है। झटके से उठा और होटल के कक्ष के कोने कोने में उसे खोजने लगा। वह कहीं नहीं मिली।

‘कहाँ गई होगी? वैसे कहीं जाती तो नहीं है। तो गई कहाँ? गई क्यों?’

मेरे मन को प्रश्नों ने घेर लिया।

मैंने गवाक्ष खोल दी। दूर सागर की लहरों को उठते, तट पर आकर टूटते और अंत में सागर में विलीन होते हुए देखता रहा।

मैंने तट पर भी उसे खोजा, वह वहाँ भी न मिली।

‘मुझे सोता हुआ छोड़कर कहीं किसी के साथ तो चली नहीं गई?’ एक कुविचार मेरे मन में आ धसा। एक क्षण के लिए मेरे स्पंदन रुक गए।

“आप को छोड़कर किसी के साथ भाग जाना ही होता तो पैंतीस वर्ष तक आपके साथ रहती? और आज के दिन की प्रतीक्षा करती?”

उसके शब्द मेरे कानों पर पड़े।

‘क्या वास्तव में ये उसके शब्द थे या मेरा कोई भ्रम?’ गवाक्ष छोड़कर मैं द्वार की तरफ घुमा। द्वार पर वह ही खड़ी थी। उसे देखकर मैं चकित हो गया।

वह द्वार पर खड़ी थी। द्वार अर्ध खुला था। उसने श्वेत साड़ी धारण की हुई थी। हाथ में उसके पूजा की थाली और थाली में प्रसाद था। ललाट पर विशाल तिलक था। मुख पर दिव्यता थी।

“यहाँ गोवा में तो लोग अर्ध नग्न घूमते हैं और आप इस ..?”

“आप क्या कह रहे थे? आपको छोड़कर मैं किसी के साथ भाग गई?”

“वो तो मैं.. ।”

“आपका विचार सत्य है, अर्ध सत्य।”

“अर्थात?”

“मैं आपको छोड़ रही हूँ किन्तु किसी अन्य के साथ भाग जाने के लिए नहीं। आपके साथ रहते हुए मैं आपको छोड़ रही हूँ।”

“ये क्या दुविधा जगा रही हैं आप? स्पष्ट शब्दों में समझाइए न?” मैं उसके निकट गया।

“आज से मैं रहूँगी आपके साथ ही किन्तु वैराग्य के मार्ग पर चलूँगी। हमारे मध्य पति पत्नी का सांसारिक एवं शारीरिक संबंध जो अब तक था वह अब नहीं रहेगा।”

“यहाँ गोवा में आकर कैसा वैराग्य जाग गया?” मैं और समीप गया। वह दो चरण पीछे हट गई।

“यह अचानक आपको क्या हो गया? कल रात्री तक तो हम साथ साथ सोये थे। प्रभात होते ही सहसा वैराग्य?”
वह गवाक्ष के समीप गई। दूर समुद्र की तरंगों को देखते हुए बोली, “सहसा कुछ नहीं होता है। कोई बात कभी भी सहसा नहीं होती।”
“तो?”
“क्षण क्षण, कण कण, अणु अणु जुडते हैं। तरंगे बहती बहती जमा होने लगती है। इनसे धीरे धीरे पिंड बनता जाता है। जब पिंड पूर्ण हो जाता है तो उससे नया सर्जन प्रकट हो जाता है। जब हम उस सर्जन को देखते हैं तो हम मानने लगते हैं कि यह सब सहसा हो गया। किन्तु ऐसा नहीं होता है।”
“मेरे समझ से परे आप कोई गहन बात कर रही हैं। इसे सरल कर दो न?”
“अर्थात आप उदाहरण से बात समझना चाहते हो?”
उत्साहित होकर मैं उसे देखने लगा। और वह स्वयं से बातें करती रही, मन ही मन और प्रकट भी।
“कौन सा उदाहरण देकर समझाऊँ?”
अंतत: उसने एक गहरी सांस ली।
“इस पृथ्वी को ही ले लो। सभी का मानना है कि सहसा एक विशाल एवं भयानक विस्फोट हुआ और उससे ब्रह्मांड अस्तित्व में आ गया। इसी प्रक्रिया में इस पृथ्वी का भी सर्जन हो गया।”
“हाँ, सुना तो ऐसा ही है।”
“किंतु वह सत्य नहीं है। ब्रह्मांड के अणु अणु धीरे धीरे जुडते गए, ऊर्जा की तरंगें क्षण क्षण मिलती रही, पिंड बनता गया और एक पूर्ण अवस्था आई तब यह ब्रह्मांड, यह पृथ्वी आदि का सर्जन हुआ। वो अणु, वो तरंगें अवकाश में पृथक पृथक अस्तित्व में थी। कोई तत्व उसे आपस में जोड़ता गया। पिंड बनता गया। है न सरल?”
मैं उसे देखता रहा। कुछ भी मेरे समझ में नहीं उतरा था।

“आपने तो मुझे और गहराई में खींच लिया।”

“तो आपको मेरा उदाहरण .. ?”

“छोड़ो उसे। मुझे नहीं समझना यह सब।”

मैं नहीं जानता कि उसने मुझे सुना होगा या समुद्र की ध्वनि को। वह गवाक्ष से समुद्र को देखती रही।

कुछ समय यूं ही व्यतीत हो गया।

“सुनो।” मैंने उसे पुकारा।

वह मुड़ी।

“यहाँ बैठो, मुझे कुछ कहना है।”

वह बैठ गई। मेरी प्रतीक्षा में मुझे निहारती रही।

“आप कहती हैं कि आपको यह वैराग्य सहसा नहीं हुआ। है न?”

उसने स्मित दिया।

“तो कौन से कण, कौन सी तरंगें थी जिसने यह पिंड बनाया?”

“कितने कणों को, कितनी तरंगों को बताऊँ?”

“जितना बता सको, बता दो।”

सहसा वह गंभीर हो गई।

“हमारे आसपास कितनी मृत्यु को हमने देखा है?”

“अपनों की या परायों की?”

“मृत्यु मनुष्यों की होती है, अपने या पराए की नहीं।”

“वो तो अनगिनत है।”

“उनमें से तीन मृत्यु विशेष थी।”

“कौन कौन सी? क्या विशेषता थी उनमें?”

“तीनों में एक सी विशेषता थी। तीनों में पत्नी की मृत्यु के कुछ ही दिनों में पति की मृत्यु हो गई थी। स्मरण है आपको?”

मैं उसे देखता रहा।

“जब जब किसी की मृत्यु होती थी, कण कण, तरंगें मुझ में जुड़ती गई। उन्होंने एक ऐसा पिंड बना दिया जो आज आपके सम्मुख वैराग्य बनकर उपस्थित हो गया।”

मैं कुछ क्षण उसके मुख के भावों को देखता रहा। किन्तु मेरा मन कोई भिन्न जगत में था। मन में विचारों के समुद्र से तरंगें उठ रही थी। मन अशांत था या विचलित? मैं नहीं जानता। मैं कुछ बोल नहीं सका, वह स्वत: मौन हो गई।

कुछ समय पश्चात वह उठी, सामान बांधने लगी।

“चलो, अब तैयार हो जाओ। आज हमें घर लौटना है। स्मरण है न?”

मैंने पलकें झपकाते हुए जम गए समय को प्रवाहित कर दिया। मन में चल रहे विचारों को प्रकट कर दिया।

“आपका वैराग्य तो पराए दु:खों को देखकर हुआ है, हैं न?”

“पराए दुखों का भी जो अनुभव कर सके वही सिद्धार्थ से बुद्ध बन सकता है।”

“वह तो उधार का अनुभव है। अपनी इंद्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव तो नहीं है। प्रत्यक्ष न हो ऐसे वैराग्य का कोई अर्थ नहीं है।”

“किन्तु मेरे वैराग्य के अर्थ हैं।”

“कैसे अर्थ?”

“दो अर्थ हैं। एक, मैं आत्म उन्नति को प्राप्त करना चाहती हूँ।”

“मोक्ष चाहिए आपको?”

“वह तो परम अवस्था होती है। उस अवस्था के जितना निकट जा सकूँ यही मेरे वैराग्य का अर्थ भी है, लक्ष्य भी।”

“और दूसरा अर्थ?”

“वह मैं अभी नहीं बताऊँगी।”

“घर जाकर बता देना। मैं प्रतीक्षा कर लूँगा।”

“नहीं, वह अर्थ मेरे जाने के पश्चात..।”

“कहाँ जाने के पश्चात?”

“इस धरती से मेरे जाने के पश्चात किसी अज्ञात प्रदेश में, अज्ञात व्यक्तियों के अज्ञात शब्दों में मेरे वैराग्य का दूसरा अर्थ स्वत: प्रकट हो जाएगा। तब उसे जान लेना, समझ लेना।”

“मृत्यु के पश्चात?”

उसने एक दिव्य स्मित दिया। आगे सब कुछ मौन हो गया। अपने अपने मौन को लेकर हम दोनों घर लौट आए।

मार्ग का मौन घर पर भी हमारे साथ रहने लगा। जिसे मैं कुछ समय का मौन समझ रहा था वह व्याप्त होकर स्थायी हो गया।

वह अपने मार्ग पर मौन चलने लगी। मैं मौन होकर, किसी कोने में बैठा उसे निहारता रहा।

सारा समय वह कोई न कोई ग्रंथ पढ़ती रहती। मेरे समझ से परे कोई न कोई क्रियाएं करती रहती। न मैं उसे रोकता, न वह रुकती। न मुझे वह कुछ समझाती, न मैं कुछ समझता। न वह मुझे अपनी क्रियाओं में सम्मिलित करती, न मैं आगे बढ़कर किसी प्रकार का उत्साह प्रकट करता।

मैं इतना जान चुका था, इतना समझ चुका था कि वह चल पड़ी है और मैं अपने स्थान पर पत्थर सा खड़ा हूँ।

एक दिन उसने मौन तोड़ा, “कल से मैं नर्मदा मैया की परिक्रमा करने जा रही हूँ।”

गोवा से लौटने के पश्चात हमारे मौन को भंग करने वाले वे प्रथम शब्द थे। मौन का मुझे इतना प्रलंब अभ्यास हो चुका था कि बोले गए और सुने गए शब्द मुझे अपरिचित लगे। मैं उसे अज्ञात भावों से देखता रहा।

“कुल मिलाकर चौंतीस सौ किलो मीटर की यात्रा होगी।”

मैं पलकें झपकाता हुआ उसे देखता रहा।

“इसे पूर्ण करने में तीन से चार वर्ष लग जाते हैं।”

इतने सारे शब्दों को सुनने के पश्चात शब्दों से मेरा अपरिचय टूटा।

“तीन चार वर्ष?” मैं भी प्रथम बार कुछ बोल सका।

“हाँ।”

“तो आप इतना समय घर से दूर..?”

“सारी धरती ही मेरा घर है।”

“और मैं?”

“आप..।”

“मैं क्या करूंगा इतने समय तक?”

उसने उत्तर नहीं दिया। कुछ विचारकर मैंने कहा।

“मैं भी चलता हूँ आपके साथ।”

वह हंस दी। मैं उसका अर्थ नहीं समझा।

दूसरे दिन वह मुझे घर पर छोड़कर चल पड़ी मां नर्मदा की शरण में तब मुझे उसकी हंसी का अर्थ समझ आ गया।

‘आनेवाले समय में मुझे अकेला ही रहना है।’ और मैं अकेला रह गया।

‘उसका वह उन्माद कुछ दिनों का है। उन्माद शांत होते ही वह घर लौट आएगी। तीन चार वर्ष तक पैदल चलना कोई सरल बात थोड़े न है?’ मैं मन को समझाता रहा। इसी आश्वासन के सहारे अकेलेपन के समय को काटता रहा। समय के बहने के साथ मेरा आश्वासन मंद होने लगा, उसका उन्माद शांत नहीं हुआ। वह और भी गहरा होने लगा।

धीरे धीरे वह नर्मदा के समीप और मुझ से उतना ही दूर जाने लगी। जिसे मैं उसका उन्माद समझ रहा था वह उसकी दृढ़ता थी। समर्पण था।

उसके जाने के पश्चात उसकी तरफ से कोई संदेश नहीं मिला। न ही मेरे पास उसका कोई संपर्क सूत्र था कि मैं उससे संवाद कर पाता।

वैसे भी उसके मेरे साथ रहते हुए भी हमारे मध्य संवाद कहाँ होता था जो मैं उसके यहाँ न रहने पर संवाद की अपेक्षा कर सकूँ?

मेरा अकेलापन अब व्यापक हो चुका था। मैं जहां भी जाता, सब को किसी न किसी के साथ पाता- उद्यान में, मार्ग में, प्रवास में, बाजार में..।

और मैं? सभी स्थान पर होता था अकेला। मुझ से बढ़कर अकेला कौन होगा? यूं ही अकेलापन व्यतीत होता रहा।

एक दिन उसका पत्र मिला - 'मैं हिमालय यात्रा पर निकल चुकी हूँ।'

कितना छोटा सा संदेश! कितनी बड़ी बात!

मेरी प्रतीक्षा के दिन लंबित हो गए। मैं नहीं जानता था कि अब वह कब घर लौटेगी। अनिश्चित सी प्रतीक्षा के साथ मैं जीने लगा।

ऐसे ही न जाने कितने दिन-महीने-वर्ष बित गए।

एक दिन किसी ने मेरे घर का द्वार खटखटाया। मुझे अपेक्षा हुई- अंतत: वह लौट आई।

उत्साह से मैं द्वार की तरफ दौड़ा, झट से द्वार खोल दिया। द्वार पर कोई अपरिचित स्त्री थी।

"आपकी पत्नी को रुद्रप्रयाग के अस्पताल में रखा गया है। आपको शीघ्रता से वहाँ जाना है।"

उसने मेरे हाथ में एक कागज रख दिया और वह चली गई। स्तब्ध सा मैं उस कागज को देखता रहा। उसमें अस्पताल का नाम ठिकाना लिखा हुआ था।

मैं भागा। अस्पताल में पत्नी की शैय्या तक पहुँच गया।

उसके मुख पर दिव्य शांति थी। अधरों पर शांत स्मित था। मानों हमारे प्रथम मिलन का स्मित।

रुद्रप्रयाग में ही मैंने उसके अंतिम संस्कार सम्पन्न किए। गंगा तट पर उत्तर क्रिया पूर्ण की। ब्रह्म भोजन भी करवाया।

भोजन के पश्चात कुछ स्त्रियाँ बातें कर रही थी।

"पत्नी की मृत्यु के पश्चात पति अकेला पड जाता है। उसके लिए शेष जीवन बिताना बड़ा कष्टदायक होता है।"

दूसरी ने कहा, “पति की मृत्यु के पश्चात विधवा स्त्री बीस-पचीस-तीस वर्ष तक भी जी जाती है किन्तु विधुर पुरुष लंबा नहीं जी पाता। पत्नी पर इतना निर्भर होता है कि उसके जाने के पश्चात अकेला पड जाता है।”

उनकी बातें सुनकर मैं मन ही मन हंसा।

‘मेरे अकेलेपन का उन्हें कहाँ संज्ञान है? वे नहीं जानती कि कितना लंबा अकेलापन मैं जी चुका हूँ। अकेलेपन का मुझे अभ्यास है।’

उसी क्षण मुझे पत्नी की बात का स्मरण हो आया-

“इस धरती से मेरे जाने के पश्चात किसी अज्ञात प्रदेश में, अज्ञात व्यक्तियों के अज्ञात शब्दों में मेरे वैराग्य का दूसरा अर्थ स्वत: प्रकट हो जाएगा। तब उसे जान लेना, समझ लेना।”

सम्पन्न

[04] चारु चंद्र

“क्या विचार है तुम्हारा, बेटे चंद्र?” चारु से मिलकर मिलन कक्ष से बाहर आते ही **चारु के पिता ने चंद्र को पूछा। उसमें प्रश्न अल्प, अपेक्षा अधिक थी। पीछे पीछे चारु भी बाहर आई।**

चंद्र के माता पिता ने भी वही प्रश्न चारु से पूछा।

चारु और चंद्र ने अपना अपना स्थान लेते हुए आँखों के कोने से एक दूसरे को देख लिया। चारु के मुख पर लज्जा के भाव उभर आए। उन भावों में सभी के प्रश्न का उत्तर था।

चंद्र के मुख के भाव स्थिर थे। जैसे उसके मन में कुछ चल रहा हो।

मिलन कक्ष में औपचारिक परिचय एवं प्रश्नोत्तरी के पश्चात सहसा चारु ने पूछा था, “आप कार चला लेते हो?”

“मेरे पास कार ही नहीं है।” चंद्र ने उत्तर दिया था।

“आज नहीं है किन्तु कल कार आ गई तो?”

“क्या आपके घर में कार है?” चंद्र ने प्रतिप्रश्न किया था।

“नहीं। हमारे घर में कार नहीं है किन्तु मुझे बड़ी इच्छा है कार लेने की।”

“आप चला लेती हैं कार?”

“अभी तो नहीं। किन्तु हमारी कार आते ही सिख लूँगी। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।”

चंद्र केवल स्मित करके रह गया था जिसके पीछे उसने अपने भावों को छिपा रखा था।

पश्चात कुछ अन्य बातों के साथ मिलन सम्पन्न हो गया था। किन्तु चारु के कार वाले प्रश्न ने चंद्र को विचार में डाल दिया था। वही विचार अभी भी उसके मन में चल रहा था।

सभी ने वही प्रश्न पुन: चंद्र से पूछा।

विचारों को विराम देते हुए चंद्र बोला, “चारु से मिलन अच्छा रहा।”

“तो तुम्हारी भी सम्मति मान लें?”

इस प्रश्न का उत्तर देना चंद्र के लिए दुविधा लेकर आया। इसी दुविधा में उसने मौन का आश्रय लिया। मौन ने उसे साहस प्रदान किया।

“यह निर्णय पूरे जीवन के लिए है तो किसी भी निर्णय पर आने से पूर्व मैं चारु के साथ एक पूरा दिन व्यतीत करना चाहूँगा। यदि आप सब की और चारु की अनुमति हो तो।”

चंद्र की बात सुनते ही क्षणभर सभी स्तब्ध हो गए।

“यदि आप सब को मेरी इस बात पर आपत्ति हो तो मैं अपना प्रस्ताव निरस्त कर देता हूँ।” चंद्र ने उस स्थान की, उस क्षण की स्तब्धता को तोड़ा।

“बेटे, हमारे यहाँ ऐसी परंपरा नहीं है कि कन्या को किसी युवक के साथ...।” चंद्र की मां ने कहा।

“चंद्र के साथ एक दिन व्यतीत करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। कब, कहाँ कैसे जाना होगा?” चारु ने सभी दुविधा को समाप्त कर दिया। मन से या आनमन से सभी ने चारु की बात का विरोध नहीं किया।

“शनिवार सुबह नौ बजे मैं आ जाऊंगा।” चंद्र ने कहा और सभी विदा हो गए।

#\ #\

ठीक नौ बजे चंद्र अपने द्विचक्री वाहन के साथ चारु के द्वार पर आ पहुंचा।

“चारु अभी अभी स्नान करके निकली है। तैयार हो रही है।” चारु की मां ने सूचित किया। चारु के पिता के साथ बैठकर चंद्र प्रतीक्षा करने लगा। कुछ समय के पश्चात चंद्र ने पूछा, “और कितना समय लगेगा?”

“बस, पाँच मिनट।” चारु की माँ ने कहा।

पाँच मिनिट की प्रतीक्षा करते करते जब पैंतीस मिनिट हो गए तब चारु आ गई। बिना अपनी अप्रसन्नता प्रकट किए चंद्र चारु के साथ घर से बाहर आ गया।

“मैं इन कपड़ों में कैसी लग रही हूँ?” चारु ने सहसा चंद्र से पूछा।

चंद्र को ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने का अभ्यास नहीं था तो वह स्मित के साथ मौन ही रहा।

अपना द्विचक्री वाहन चालू करके चंद्र ने चारु से कहा, “आप पीछे बैठ जाइए।”

“सारा दिन क्या हम इस वाहन पर घूमेंगे?” चंद्र ने चारु के भाव परख लिए।

“इस पर आप को असुविधा होगी, बस से चलते हैं।” चंद्र ने वाहन वहीं रख दिया और बस स्थानक की तरफ चलने लगा। एक बास आई तो चंद्र उस में चड़ने लगा।

“बस में भीड़ होगी।” चारु ने उसे रोक लिया।

चंद्र अब चारु के अभिप्रायों को समजने लगा था।

“कोई बात नहीं, हम रिक्शा से चलते हैं।”

“आपके किसी मित्र की कार नहीं है?”

“है न?”

“एक दिन के लिए उससे मांग लेते।”

“अगली बार मांग लूँगा। आज तो रिक्शा से ही काम चलाना पड़ेगा।”

“रिक्शा छोड़ो, टेक्सी कर लेते हैं।”

चंद्र ने कुछ भी प्रतिभाव दिए बिना ही टेक्सी बुला ली और दोनों उस पर सवार हो गए।

“आज का कार्यक्रम क्या है?” मार्ग में ही चारु ने पूछा।

“प्रथम पहाड़ी वाले मंदिर जाएंगे। वहाँ से पीछे एक नदी बह रही है वहाँ कुछ समय बैठेंगे।”

“वहाँ क्या करेंगे?”

“नदी को देखेंगे।”

‘और मुझे?’ चारु के मन में प्रश्न उठा किन्तु पूछने का साहस न कर सकी।

“और?”

“वहीं जाकर सोचेंगे। आप कभी नदी तक गई हो?”

“मैं तो उस पहाड़ी पर भी नहीं गई।”

“तब तो आपको वह स्थान पसंद आएगा।”

“आपने देखा है वह स्थान?”

“हाँ।”

“मैं इस नगर में रहती हूँ, जन्म से। मैं न तो वहाँ गई हूँ कभी न कभी जाने का विचार किया है। और आप मेरे नगर में आकर इसे खोज भी लेते हो? कैसे कर लेते हो यह सब?”

“जैसे मैंने आपको खोज लिया।”

चारु हंस पड़ी। उसके गाल लाल हो गए।

“वैसे पहाड़ी चड़ने में आपको कोई कठिनाई तो नहीं होगी?”

“आप हो ना साथ तो...?” चारु ने अधूरे छोड़े शब्दों के साथ चंद्र को देखा। वह खिड़की से बाहर जाते हुए मार्ग को देख रहा था। बाकी का मार्ग मौन ही सम्पन्न हो गया।

$ $ $

“मंदिर जाना आपको पसंद है?” पहाड़ी चड़ते हुए चंद्र ने पूछा।

“माँ और पिताजी के साथ मंदिर जाती रहती हूँ। घर के समीप ही है।”

“कभी अकेली नहीं गई?”

“मन नहीं हुआ।”

“ठीक है।”

“कारण नहीं पूछोगे क्या?”

“नहीं तो?”

“क्यों?”

“किसी के व्यक्तिगत कारणों में मैं नहीं पड़ता कभी।”

“किन्तु मुझे तो कारण पूछ सकते हो।”

“समय आने पर पूछ लूँगा। अभी पहाड़ी चड़ने में कष्ट तो नहीं हो रहा है?”

चारु ने उत्तर नहीं दिया। वह चड़ती रही। कुछ चड़ाई के पश्चात थक गई, एक शीला पर बैठ गई। चंद्र ने उसे पानी धर दिया।

“आपने कैसे जाना कि मुझे तृषा लगी है?”

उत्तर में चंद्र ने स्मित दिया। चारु ने पानी पी लिया।

‘चंद्र मेरा ध्यान रख रहा है। युवक तो अच्छा लग रहा है। किन्तु पहाड़ी चड़ने में मेरी सहायता करने को भी तत्पर है। इस बहाने उसका आशय मुझे छु लेने का तो नहीं? मुझे इसे परखना होगा।’ चारु उठी और चलने लगी। कुछ ऊपर जाकर रुक गई।

“अब ऊपर चड़ना कठिन हो रहा है। कैसे चड़ूँगी ऊपर?”

चंद्र ने चारु को देखा। मंदिर तक जाता मार्ग देखा। शेष अंतर का अनुमान लगाया और कहा, “मंदिर अब निकट ही है। थोड़ा रुक रुक कर चड़ने से सरलता होगी।”

“किन्तु मैं थक चुकी हूँ।”

“यदि ऐसा हो तो मंदिर जाना छोड़ देते हैं। लौट चलते हैं।”

“यहाँ तक आकर अब लौटना नहीं है। आप साथ दोगे तो मंदिर तक चड जाऊँगी।”

“ठीक है। आप मेरे कंधे को पकड़कर पीछे पीछे चलते रहना।”

चंद्र आगे हो गया। चारु ने कंधा पकड़ लिया और चड़ने लगी।

‘चंद्र ने मेरा हाथ पकड़ने का अवसर खो दिया। चाहता तो मुझे छु सकता था। किन्तु चंद्र ने ऐसा नहीं किया। क्यों?’ चारु के मन में विचार और प्रश्न चल रहे थे साथ साथ चरण भी। इसी प्रकार दोनों मंदिर तक आ गए।

दर्शन कर दोनों पहाड़ी के पीछे नदी की तरफ उतरने लगे। दोनों मौन थे। केवल हवा अपनी ध्वनि सुना रही थी।

उस मौन से त्रस्त चारु ने कहा, “आपने भगवान से क्या मांगा?”

“कुछ भी नहीं।”

“लंबे समय तक हाथ जोड़, अपलक भगवान को देखते देखते क्या बोल रहे थे?”

“कुछ मंत्र बोल रहा था और स्तुति कर रहा था मैं।”

“आपने कुछ मांगा क्यों नहीं?”

‘तुम जो मिल गई हो तो अब भगवान से क्या मांगना शेष रह गया?’ चारु को ऐसे उत्तर की अपेक्षा थी। किन्तु चंद्र ने कुछ ओर ही कहा।

“आपने कुछ मांगा क्या? क्या मांगा?”

अपनी अपेक्षा भंग पर चारु को निराशा हुई।

“मैं नहीं बताऊँगी कि मैंने क्या मांगा। किन्तु आपने मेरे प्रश्न को टाल दिया।”

“मेरी आवश्यकताओं का जिसे पूरा पूरा संज्ञान है उससे मांगने की क्या आवश्यकता?”

चंद्र के विचार सुनकर चारु रुक गई। चंद्र को देखने लगी।

‘चंद्र, तुम कुछ भिन्न हो। मुझे अधिक पसंद आने लगे हो।’ उसने चंद्र को क्षण भर देखा। वह आगे निकल चुका था। चारु चंद्र के साथ हो गई।

“यह नदी तो सुंदर है। हैं न?” चारु नदी को देखते ही बोल पड़ी।

“आप को नदी पसंद आई?”

“हाँ।” दोनों नदी के समीप आ गए। कुछ क्षण तक दोनों नदी को देखते रहे, बिना कुछ कहे।

“आप इतने मौन क्यों हो?” चारु बात करना चाहती थी।

“जब मैं किसी को सुनता हूँ तो मौन ही रहता हूँ।”

“मैं तो कुछ बोली ही नहीं। किसे सुनते हो?”

“आप भी उसे सुनना चाहो तो मौन हो जाओ।”

“मैं तो मौन ही थी। मुझे कुछ सुनाई नहीं दिया। हमारे उपरांत यहाँ कौन है जो बोल रहा हो और आप उसे सुन रहे हो?”

“आप भी मौन हो जाओ। सुनाई देगा।”

चारु मौन हो गई। सुनने का प्रयास करने लगी।

‘प्रयास करने पर भी मुझे तो कुछ सुनाई नहीं दे रहा। न जाने चंद्र को क्या सुनाई दे रहा है?’

“मुझे तो कुछ नहीं सुन पड़ता।”

“आपने पूर्ण मौन का प्रयोग नहीं किया होगा।”

“पूर्ण मौन?”

“मन में उठ रहे सभी कोलाहलों को शांत कर दो। वही पूर्ण मौन होता है।”

चारु ने आँखें बंद कर ली। मन से सभी विचारों को एक एक कर विदा कर दिया। मन शांत हो गया, पूर्ण मौन जाग उठा।

‘धीरे धीरे कुछ स्वर सुनाई दे रहे हैं। इसमें कुछ लय है, ताल है। जैसे कोई मधुर संगीत को प्रवाहित कर रहा हो। इस निर्जन स्थान पर कौन ऐसा कर रहा है?’ चारु ने सहसा आँखें खोल दी। सम्मुख उसके अन्य कोई नहीं था, चंद्र के उपरांत।

‘चंद्र? वह तो बंद आँखों के साथ कहीं किसी समाधि में हो ऐसा प्रतीत हो रहा है।’

उसने चारों तरफ देखा। कोई नहीं था।

उसने पुन: उस ध्वनि को सुनने का प्रयास किया। उसे सुनाई दिया। उस ध्वनि की दिशा में देखा उसने। उसे नदी दिखाई दी।

‘नदी के तट पर यह कौन स्त्री है जो अपने हाथों में वीणा लीये इसे बजा रही है?’

चारु उस स्त्री की तरफ बढ़ी। समीप जाते ही वह स्त्री उसे वहाँ नहीं दिखी।

‘स्त्री तो नहीं है किन्तु संगीत अभी भी बज रहा है। कौन...?’

“आप जिसे सुन रही हैं वह नदी का संगीत है।”

चंद्र के शब्दों से चारु चौंक गई। उसकी वाचा कहीं खो गई। वह शून्य दृष्टि से चंद्र को तो कभी नदी को देखने लगी।

“आपने जिस वीणाधारी स्त्री को देखा वह आपकी कल्पना थी।”

“या नदी स्वयं थी?” चारु दौड़ गई नदी के पास। चली गई नदी के भीतर।

नदी के प्रवाह का तरंग उसके पूरे शरीर में तरंगित हो गया। चंद्र की उपस्थिति का विस्मरण कर चारु नदीमय हो गई। बहते जल का वैभव भोगती रही। जल में जल से क्रीडा करती रही।

चंद्र दूर से चारु की क्रीड़ाओं को निहारता रहा।

चारु झुकी, घुटनों तक बहते पानी में हाथ डालकर दोनों हथेलियों में पानी भर लिया। घड़ी भर उसे देखा और उछाल दिया। पानी की कुछ बूंदें गिरकर नदी में मिल गई तो कुछ ने चारु को भिगो दिया।

चारु ने पुन: वही किया, जल बूंदों ने भी। ये क्रम चलता रहा। जल क्रीडा में चारु स्वयं को भी भूल गई।

जब उसे स्वयं के होने का ध्यान आया तो उसे चंद्र का भी स्मरण हो आया।

चंद्र भी जल के भीतर ही था, कुछ अंतर पर। वह सूर्य को जल से अंजली दे रहा था। अर्घ्य सम्पन्न कर वह चारु की तरफ मुड़ा। चारु उसे ही देख रही थी। दोनों के नेत्र मिले, दोनों के होंठों ने स्मित दिए।

“आप तो भीग चुकी हैं। आपके बाल और गालों पर जल बूंदें हैं।”

सुनते ही चारु ने स्मित करते हुए नयन झुका लिए। उस आकृति को देखकर चंद्र के भीतर कुछ उछला। क्षण में ही उसने उसे शांत कर दिया।

“ये नदी सैंकड़ों किलोमीटर की यात्रा करती हुई यहाँ आती है किन्तु इसकी गति, इसकी ऊर्जा थोड़ी सी भी क्षीण नहीं हुई है। जैसे अभी अभी घर से निकली हो।”

“नदी का भी घर होता है?”

“हाँ, चारु। संसार के सभी पदार्थों का अपना अपना घर होता है।”

"घर! हाँ, घर से निकले हुए हमें समय हो गया है। और न तो मेरी गति उतनी रही है न ऊर्जा शेष बची है।"

"इसका अर्थ है कि आपको भूख लगी है।"

चारु ने सम्मति दी।

$ % $ % $

"आप क्या और कहाँ खाना चाहोगी?"

"आपने क्या सोचा है?"

"नगर आपका है, आप ही कुछ सुझाइए।"

चंद्र के प्रस्ताव की ही प्रतीक्षा में थी चारु। झट से बोली, "सुना है कि यहाँ 'स्वामी' नाम की रेस्टोरंट प्रसिद्ध है। वहीं चलते हैं।"

चंद्र ने टेक्सी बुलाई और चल पड़े 'स्वामी' की तरफ।

'स्वामी इस नगर की सबसे महंगी रेस्टोरंट है। चारु ने उसे ही चुना है।' चंद्र ने चारु का विचार समज लिया।

दोनों 'स्वामी' में प्रवेश कर गए।

"आप क्या खायेंगी? यहाँ की विशेषता क्या है?"

"मैं नहीं जानती।" चारु ने कहा और सूची देखने लगी।

"ऐसा क्यों?"

"मैं यहाँ कभी नहीं आई। कभी कभी हम बाहर खाने के लिए जाते हैं किन्तु यहाँ कभी नहीं आए। बड़ा महंगा जो है यह।"

चंद्र ने उस अधूरी इच्छा की पीड़ा का चारु के शब्दों के द्वारा अनुभव कर लिया।

"कोई बात नहीं। जो अच्छा लगे वो मँगवा लो, हम दोनों के लिए।"

कुछ समय तक वह सूची देखती रही। अंततः उसने दोनों के लिए महंगी वाली सामग्री मँगवा ली। भोजन करते रहे, कुछ बातें भी। चंद्र ने मूल्य चुकाया। दोनों बाहर आ गए।

“आपके लिए कुछ कपड़े, चप्पल, परफ़्यूमस, शृंगार साधन आदि खरीद लेते हैं।”
चंद्र के प्रस्ताव ने चारु के मन में दुविधा को जन्म दे दिया।
‘क्या अभी इन सब वस्तुओं का स्वीकार करना उचित होगा?’
‘अनुचित तो इसमें कुछ भी नहीं है।’
‘कैसे?’
‘चंद्र तुम्हारे साथ जीवन को जोड़ना चाहता है। होनेवाला पति है। उससे ये सब स्वीकार करने में कुछ अनुचित नहीं है।’
‘किन्तु घरवाले क्या कहेंगे?’
‘घरवालों के नाम से अस्वीकार कर देती हूँ।’
“चलो बताओ। कहाँ ये सब मिलेगा?” चंद्र के प्रश्न ने चारु की विचार गति को रोक दिया।
“ये सब की अभी क्या आवश्यकता? घरवाले क्या सोचेंगे?”
“घरवालों की चिंता छोड़ दो। आप अपनी कहो। क्या आप इन सब को स्वीकार करोगी?”
“घरवालों को आप संभाल लोगे?”
“हाँ, हाँ। आप वह मुझ पर छोड़ दो।”
“तब ठीक है। मोल में चलते हैं। वहाँ अच्छी अच्छी वस्तुएं मिलती हैं। सभी ब्रांड की दुकाने हैं।”
दोनों नगर के सबसे बड़े मोल में गए। चारु की पसंद की सभी वस्तुएं खरीद ली।
‘नगर की सबसे महंगी वस्तुएं खरीदी है चारु ने। अभी तक इन में से किसी का भी उसने उपयोग नहीं किया है।’ चंद्र ने मन ही मन इस बात को समज लिया। वह हंस पड़ा।
“आप किस बात पर हंस रहे हो?”
“कुछ नहीं। बस यूं ही।”
“कुछ तो है। बताओ न?”

“आपके साथ से मुझे प्रसन्नता हो रही है तो..।” चारु ने चंद्र की बात मान ली। वह भी हंस पड़ी।

संध्या से पूर्व दोनों लौट आए।

“आइए, हम आप दोनों की ही प्रतीक्षा कर रहे थे।” चारु के पिता उठ खड़े हो गए।

“कहो, कैसा रहा आज का दिन?” चारु की माँ ने अधीरता प्रकट की।

“अपनी बेटी से ही पूछ लीजिए।”

सभी ने अपेक्षा दृष्टि से चारु को देखा।

मुख पर लज्जा स्मित के साथ वह घर के भीतर दौड़ गई। चारु की ऐसी प्रतिक्रिया का सब ने अपने अपने अर्थ ग्रहण कर लिए।

“चारु का साथ तुम्हें जीवनभर के लिए स्वीकार होगा?” चारु के पिता ने पूछा। चंद्र कुछ क्षण मौन रहा।

‘क्या करूँ? कह दूँ? कहीं मेरे कहने से कोई विपरीत प्रभाव तो..?’ चंद्र ने विचार करने में समय लिया।

“मैं आप से कुछ बात करना चाहूँगा। क्या आप मेरे साथ बाहर आ सकते हैं?”

चंद्र के शब्दों से सारे घर में शून्यता प्रसर गई। सभी के ह्रदय के स्पंदन घड़ी भर के लिए रुक गए।

चारु की माँ ने सोचा, ‘कौन सी बात होगी? यह संबंध नहीं हो सका तो?’

चारु के पिता ने सोचा, ‘क्या इसे दहेज की अपेक्षा होगी? मैं इसके किसी प्रकार के दबाव में नहीं आऊँगा। चारु के लिए कोई दूसरा युवक मिल जाएगा।’

चारु के मन में आशंका जन्मी, ‘यह क्या हो रहा है? अधरों तक आकर कहीं रस से वंचित न रह जाऊं! चंद्र क्या चाहता है? कितना अच्छा व्यवहार किया था उसने पूरे दिन मेरे साथ। मेरी सभी महंगी इच्छाओं को भी पूरा किया था इसने। और अब निर्णय की घड़ी आई तो..? कहीं यह मन का मैला तो नहीं?’

चंद्र उठकर बाहर चला गया। विवश होकर चारु के पिता भी बाहर आ गए। उसके मुख की रेखाएं तनी हुई थी। मन में कुछ क्रोध भी धधक रहा था।

चारु के पिता से चंद्र की कुछ बातें हुई। चंद्र वहीं से लौट गया। चारु के पिता घर लौट आए।

“क्या हुआ? क्या बात है? वह है कहाँ?” चारु ने और उसकी माँ ने एक साथ प्रश्न कर दिए। उत्तर की अपेक्षा में दोनों चारु के पिता को स्थिर नेत्रों से देखने लगे। चारु के पिता के मुख पर चिंता की कोई रेखा नहीं थी। अपितु वहाँ स्मित था।

“क्या हुआ? कहो न?” दोनों ने पुन: पूछा।

“चिंता की कोई बात नहीं है।”

“आप दोनों की क्या बात हुई?”

“कुछ नहीं। वो तो पुरुषों वाली बात थी।”

“तो उसने सम्मति दे दी?”

“उसने कुछ समय मांगा है। दस दिनों के पश्चात वह लौटेगा तब..।”

“ये चंद्र बार बार निर्णय टाल क्यों रहा है?”

“जीवन भर का प्रश्न है, समय तो लेगा न?”

“तब तक चारु का क्या?”

“वह भी अपना निर्णय लेने के लिए इस समय का उपयोग कर सकती है।”

“आप की बातों से चिंता तो नहीं हो रही है किन्तु अब उत्सुकता से दस दिनों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।” चारु की माँ भीतर चली गई।

चारु ने निर्णय कर लिया, ‘दस दिनों तक चंद्र की दी गई वस्तु में से किसी का भी मैं उपयोग नहीं करूंगी। न ही किसी से इसकी बात करूंगी। दस दिन के पश्चात उसने संबंध अस्वीकार कर दिया तो सब उसे लौटा दूँगी।’

उस क्षण के पश्चात सभी अपने अपने कार्यों में व्यस्त हो गए।

तीन दिन व्यतीत हो जाने पर रात्रि को सोने से पूर्व चारु के पिता ने कहा, “कल पूरा दिन हम बाहर घूमने जाएंगे। खाना भी बाहर ही होगा। पश्चात जिसे जो कुछ खरीदना हो वह खरीद लेना। उसकी सूची बना लेना।”

जब सभी दूसरे दिन प्रात: तैयार हो गए तो चारु के पिता ने कहा, “प्रथम मंदिर चलना है, मैं टेक्सी बुलाता हूँ।”

“वहाँ तक तो बस जाती है। हम बस से ही चलते हैं।” चारु ने कहा।

“टेक्सी से क्यों नहीं?”

“टेक्सी महंगी पड़ती है, बस सस्ती।”

सभी बस से मंदिर गए। दर्शन किए, प्रसाद भी लिया।

“किसको क्या लेना है उसकी सूची साथ में ही है न? कहो कहाँ से लेना है ये सब?”

“पिताजी, मैं एक दुकान जानती हूँ। वहाँ सब कुछ सस्ता और अच्छा मिलता है।”

चारु सब को उस दुकान पर ले गई। सभी ने कुछ न कुछ खरीदा, अच्छा और सस्ता!

“मुझे भूख लगी है। किसी अच्छे रेस्टोरेंट में चलते हैं।”

“पिताजी, जो बड़े बड़े रेस्टोरेंट होते हैं न वे सभी बड़े महंगे होते है। उसमें खाना भी कोई विशेष नहीं होता। अच्छा खाना तो ढाबे पर ही मिलता है, सस्ता भी होता है।”

चारु ने सभी को ढाबे का स्वाद अनुभव कराया।

“अभी तो आधा दिन बाकी है। तो अब क्या करेंगे, चारु के पिताजी?”

“चारु की माँ, चारु की पसंद की कोई फिल्म देखने चलते हैं।”

“आज कल सिनेमा देखना महंगा हो गया है। ऊपर से यदि वहाँ कुछ खा पिया तो और महंगा पड़ेगा।”

“तो अब क्या करेंगे?”

“घर चलते हैं।” चारु के कहने पर सब घर लौट आए।

दस दिनों की अवधि पूर्ण होते ही चंद्र अपने माता पिता के साथ चारु के घर आया। चारु के मन में कुछ बात चल रही थी, ‘आज तो चंद्र अपने माता पिता के

साथ आया है तो निश्चय ही बात बन जाएगी।' वह किसी गीत को गुनगुनाने लगी।

"आज हम निर्णय करके ही जाएंगे।" चंद्र की माँ ने बात प्रारंभ की। चारु की माता उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगी। चारु ने स्वयं को दर्पण में देख लिया। नयनों के कटाक्ष से अपने ही प्रतिबिंब से बातें कर ली।

"हम चंद्र के मुख से निर्णय सुनना चाहेंगे।" चारु की माँ ने कहा।

चंद्र कुछ कहे उससे पूर्व ही चारु के पिता ने एक कागज चंद्र को दिया। चंद्र ने उस पर विहंग दृष्टि डाली और स्थिति को समज लिया।

"मैं अपनी बात चारु की उपस्थिति में कहना चाहूँगा। उसे बुला लीजिए।" चंद्र के शब्दों की प्रतीक्षारत चारु स्वत: उपस्थित हो गई। उसके चरणों में एक लय, एक गति, एक चंचलता थी।

"चारु, यहाँ आइए।" चारु चंद्र के समीप गई। चंद्र ने उसे वही कागज दिया जो इसके पिता ने चंद्र को दिया था।

चारु दुविधा भरी दृष्टि से चंद्र को देखने लगी।

"क्या है ये?"

"स्वयं देख लो।"

चारु उसे देखती उससे पूर्व ही चारु के पिता ने कहा, "तुम्हारे हाथ में दो भिन्न भिन्न दिनों के खर्च की विगत है। एक वह दिन जब तुम चंद्र के साथ गई थी और दूसरा वह दिन जो हम सब साथ घूमने गए थे।"

चारु को बात समज में आने लगी।

"उस दिन चंद्र ने जब मुझे बाहर बुलाया था तभी उसने यह योजना बताई थी। दोनों दिनों के तुम्हारे व्यवहार में बड़ी भिन्नता थी, चारु। इसका अर्थ जानती हो?"

चारु ने नयन झुका लिए। पैर के अंगूठे से वह कुछ अज्ञात आकृति रचने लगी।

"इस पर तुम्हें कुछ कहना है, चारु?" पिता ने उसे जागृत किया। वह मौन रही।

"मैं चंद्र की बात से सहमत हूँ।"

“कौन सी बात, चारु के पिताजी?”
“कन्याएं माता पिता को अल्प से अल्प खर्च करवाना जानती है। क्यों कि वे माता पिता की आर्थिक स्थिति को भली भांति जानती हैं। वे अपनी इच्छाओं को दबा लेती है।
किन्तु जैसे ही वे पति के घर जाती हैं, उनकी अधूरी इच्छाओं का विस्फोट हो जाता है। पति की आर्थिक स्थित को जानते हुए भी उन्हें सभी अधूरी इच्छाएं शीघ्र ही पति से पूरी करवानी होती है। इसके लिए वे हठ करती हैं। यहीं से पति पत्नी का मधुर संबंध अपना माधुर्य खोने लगता है। आज चारु ने भी यही किया है।”
चारु के पिता ने चारु और चारु की माँ पर तिरछी दृष्टि डाली। दोनों सहम गईं। सहसा चंद्र के पिता ने चंद्र की माँ को देखा। उसने भी पलकें झुका ली। सभी के मन पर एक गहन बोज पड गया, सभी मौन हो गए।
जब हवा अधिक बोझिल होने लगी तो चंद्र ने कहा, “मैं चारु की इच्छाओं का सम्मान करता हूँ। उन्हें पूरा करने का प्रयास करूंगा। कुछ पूरी हो जाएगी, कुछ अधूरी रह जाएगी। मैं चारु पर निर्णय छोड़ता हूँ, उसे क्या चाहिए?”
सभी चारु को देखने लगे।

सम्पन्न

[05] अभियुक्त

पूरी के समुद्र तट पर कुर्सी में बैठा मैं सूर्योदय का आनंद ले रहा था। सूर्योदय के पश्चात शांति की अनुभूति करने के लिए आँखें बंद कर ली।

उस समय सारी कुर्सियाँ खाली थी। वैसे तो बीस रुपये में दो घंटे बैठ सकते हैं किन्तु घंटों तक मैं समुद्र के सान्निध्य में बैठना चाहता था इसलिए कुर्सी का पूरे दिन का शुल्क दे दिया था।

तट पर अभी लोग आए नहीं थे अत: सब कुछ शांत था। इस शांति में समुद्र की ध्वनि को सुनते हुए कब निद्राधिन हो गया उसका मुझे ध्यान न रहा।

जैसे जैसे दिन चड़ता गया, लोग जुडते गए किन्तु मैं निद्रा की इतनी गहराई में जा चुका था कि प्रवासियों के कोलाहल को सुन न सका।

लंबा समय हो गया होगा उस निद्रा में। जब निद्रा से तन संतुष्ट हो गया तब मैंने कोलाहल का अनुभव किया। आँखें आधी खोलकर उन लोगों को देख लिया और पुन: आँखें बंद कर, उस कोलाहल से स्वयं को काटकर पड़ा रहा। समय की तरंगें भी समुद्र की तरंगों की भांति आती जाती रही। किन्तु मैं अचल सा पड़ा रहा।

“आप ऐसा कैसे कर सकते हो एक वृद्ध के साथ? आपने पैसे लिए हैं तो कुर्सी तो देनी पड़ेगी।” इन शब्दों ने मेरा ध्यान उस तरफ खींचा।

एक वृद्ध व्यक्ति कुर्सीवाले से कह रहे थे और कुर्सीवाला उसे समझा रहा था

“कोई कुर्सी खाली नहीं है तो...।”

“तो आपने मुझ से पैसे क्यों लिए?”

“आपके पैसे वापस ले लो। लो ये आपके बीस रुपये।” वह पैसा लौटाने लगा।

“नहीं, अब मुझे पैसे नहीं, कुर्सी ही चाहिए।”

“कहाँ से लाऊँ खाली कुर्सी?”

“वो तुम जानो। मुझे बस कुर्सी चाहिए।”

वृद्ध ने अपने अधिकार की हठ पकड़ ली। मैंने सभी कुर्सियों पर दृष्टि डाली। वास्तव में सब भरी हुई थी। कुर्सीवाले ने भूल कर दी थी, बिना देखे जाने उसने पैसे ले लिए थे और कुर्सी नहीं दे पा रहा था।

क्षण भर में मैं अपनी कुर्सी से उठा और वृद्ध की तरफ बढ़ गया।

“चाचाजी, आप यहाँ बैठ जाइए, मेरी कुर्सी पर।”

सुनते ही कुर्सीवाले ने मेरी तरफ प्रश्न भरी दृष्टि से देखा। संकेत से मैंने उसे निश्चिंत रहने को कह दिया। वह चला गया।

“आइए न। यहाँ बैठ जाइए।” मैंने हाथ पकड़कर उन्हें ले जाना चाहा।

“मुझे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है। मैं चल सकता हूँ।”

वे चलने लगे। कुर्सी तक आ गए किन्तु वहीं रुक गए।

“बैठिए जी।” मैंने आमंत्रित किया।

मुझे घूरते हुए वे बोले, “किसी की दया पर मैं...।”

“एक बार आप शांति से बैठ जाइए, हम बात करते हैं न?”

मेरी आँखों में बिनती भी थी, आग्रह भी। वे उसे टाल न सके। बैठ गए। उसके समीप मैं भी रेत पर बैठ गया।

वे समुद्र को देखने लगे, उद्विग्न मन से। शांत होने में उन्हें कुछ समय लगा। मैंने धैर्य के साथ वह समय उन्हें दिया। अंतत: वे शांत हो गए। मेरी तरफ घूरकर देखते हुए बोले, “तुम मुझ से बातें करोगे?”

मैंने स्मित दिया।

“किसी के पास समय नहीं होता है हम जैसे वृद्धों के पास बैठने का, हम से बातें करने का। और तुम कहते हो कि तुम मुझसे बातें करोगे?”

“मेरे पास समय है, यदि आपके पास बातें हो तो।”

“तुम सत्य कह रहे हो या मेरा मन रखने के लिए?”

“सत्य बातों के सिंग होते हैं क्या? मैंने तो नहीं देखे आज तक। आपने देखे हैं?”

वे हंस पड़े। सारा क्रोध, सारी अशान्ति पिघल गई। मुख से ग्लानि के सारे भाव अदृश्य हो गए।

“तुम्हारा सत्य मुझे पसंद आया। जानते हो क्यों?”

मैं अनभिज्ञता से उन्हें देखता रहा।

“मैं ही बता देता हूँ। मैं एक अधिवक्ता था। सत्य के लिए सदैव न्यायालय में लड़ता रहा।”

“ओह। तो आप अधिवक्ता थे? सत्य प्रिय अधिवक्ता! वाह, क्या बात है?”

“तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है न? तुम्हारा दोष नहीं है। अधिकांश अधिवक्ताओं को सत्य से, न्याय से कोई लेना देना नहीं होता है। किन्तु मैं उन सबसे भिन्न था।”

“मेरा तात्पर्य आप पर संदेह करना नहीं था। मुझे तो बस थोड़ा अचरज हो रहा था।”

“स्वाभाविक है।”

सहसा उनका ध्यान समुद्र की तरफ गया।

“मैं भी क्या यहाँ मेरी बातें करने लगा। हमें समुद्र का आनंद लेना चाहिए। मेरी बातों से मुझे किसी के आनंद में व्यवधान तो नहीं डालना चाहिए।” और अचानक वे मौन हो गए।

इस प्रकार उनका मौन हो जाना मुझे खटकने लगा। तथापि कुछ समय तक मैं भी मौन ही रहा।

‘ये अपनी बात किसी से कहना चाहते हैं। किन्तु कोई उनकी बातें सुननेवाला नहीं है। कदाचित उनके अपने बच्चे भी।

मुझे सुननी चाहिए। मैं सुनूँगा।’

मैंने उनकी तरफ देखा। वे कहीं दूर देख रहे थे। वैसे तो वे मौन थे किन्तु उनके होंठ हिल रहे थे, जैसे वे कुछ कहने को उत्सुक थे।

“आपका इतना लंबा अनुभव है। आप उन बातों को बता सकते हो जिसमें आपको कडा संघर्ष करना पड़ा हो, सत्य के लिए।”

उसने मुड़कर मुझे देखा।

“हाँ, आपके पास कई बातें होंगी। हैं न?”

सहसा उनके मुख पर नूतन आभा उभर आई। वे सीधे बैठ गए। गहरी सांस ली, छोड़ी और बोलने लगे।

“एक से बढ़कर एक ऐसी अनेक घटनाएं हैं। कितनी बताऊँ?”

“जितनी बता सको।”

“समय है तुम्हारे पास?”

“आपके पास बातें हैं, मेरे पास समय।”

वे खुलने लगे। खिलने लगे। एक एक कर उसने अनगिनत घटनाएं सुनाई। मैं उसे ध्यान से सुनता रहा।

मैंने देखा कि प्रत्येक घटना के पश्चात उनके वृद्ध शरीर में नया रक्त प्रवाहित होने लगता हो ऐसे उसके मुख पर भाव क्रीडा करने लगते थे।

अनेकों घटनाएं सुनाकर वे थक गए।

“ऐसा था सत्य के लिए मेरा उपक्रम। पूरे न्यायालय में प्रतिष्ठा थी इस अधिवक्ता नवीनचंद्र की। और आज देखो इस नवीनचंद्र को सत्य के लिए कुर्सीवाले से वाद विवाद करने पर भी न्याय नहीं मिला।”

उस घटना की वेदना अचानक उनके शब्दों में प्रकट हो गई। मैंने उनका हाथ पकड़ा और धीरे धीरे दबाने लगा। उनकी पीड़ा शांत होने लगी। कुछ समय तक हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। केवल समुद्र अपना घू घू करता रहा।

“हम इतने समय से साथ हैं, इतनी सारी घटनाओं की बातें मैं तुमसे करता रहा हूँ किन्तु तुमने अपने विषय में तो कुछ कहा ही नहीं? क्या नाम है तुम्हारा?” उन्होंने चुप्पी तोड़ी।

“मेरा? हम जैसे साधारण व्यक्ति के नाम में क्या रखा है?”

“कुछ तो होगा नाम तुम्हारा?”

“श्याम, गोपाल, रमेश, महेश, सुरेश या व्रज। ऐसे नामों से कुछ नहीं होता। छोड़ो न उसे।”

उसने कोई आग्रह नहीं किया मेरा नाम जानने का।

किन्तु जब से उन्होंने अपना नाम अधिवक्ता नवीनचंद्र बताया तब से मेरे मन में एक विशेष स्मरण जाग उठा था। मैंने अब अपनी बात रखने का समय ताड़ लिया।

“आप सत्य प्रिय हैं। मुझे एक घटना का स्मरण हो रहा है। उस घटना में आपके मत से सत्य किसके पक्ष में है मुझे वह जानना है।”

“मेरे मत से?”

“सत्यप्रिय अधिवक्ता नवीनचंद्र से बढ़कर और किसका मत हो सकता है?”

“ठीक है, कहो।”

मैंने स्मित के साथ बात प्रारंभ की।

“जब मैं छोटा था तब हमारा परिवार जहां रहता था वहाँ की ये घटना है। है थोड़ी प्राचीन, किन्तु रसप्रद है। और...।”

“उसमें मेरे लिए कुछ है क्या?”

“वह सारी घटना आपके लिए ही है।”

“तो सुना दो।”

“हमारी वीथी में एक परिवार रहता था। वीथी का अर्थ जानते हो न? गली। गली को ही वीथी कहते हैं।” मैंने उनको देखा। उसने स्मित दिया।

“उस परिवार में चार बेटियाँ और दो बेटे थे। माता पिता संस्कारी थे तो बच्चे भी पूरे संस्कारी थे। उस गाँव में उस परिवार की बड़ी प्रतिष्ठा थी।”

मैं क्षणभर रुका। आश्वस्त हुआ कि वे मेरी बात सुन रहे थे।

“चारों बिटियाँ सुंदर थी। जो तीसरी वाली थी न, वह पढ़ने में भी अच्छी थी। उपरांत कविता करना, पुस्तकें पढ़ना, गीत गुनगुनाना, नृत्य करना, रसोई पकाना भी वह जानती थी। थोड़ी लज्जाशील थी। अल्प बोलती थी।”

नवीन जी की रुचि अब बढ़ने लगी थी। बड़े ध्यान से मुझे देख रहे थे, सुन रहे थे।
"उसी वीथी में आठ दस घर की दूरी पर एक और परिवार रहता था। उनकी भी चार बेटियाँ थी। बेटे तीन थे। मध्यवाला बेटा और वो तीसरीवाली बेटी दोनों एक ही विद्यालय में, एक ही कक्षा में साथ पढ़ते थे। बेटा पढ़ाई में उस बेटी से अधिक प्रवीण था।
वैसे तो एक ही विद्यालय, एक की कक्षा और एक ही गली थी किन्तु दोनों ने एक दूसरे से कभी कोई बात नहीं की।
किन्तु युवती का यौवन और युवक का हृदय एक दूसरे से न जाने क्या, कैसी बातें करते थे कि युवक युवती को पसंद करने लगा।
युवती को इस बात का संज्ञान था या नहीं वह बात युवक नहीं जानता था। युवक उसे देखता रहता। जब वह चलती तो उसके चरणों के साथ युवक की दृष्टि भी चलती रहती। इससे आगे वह कुछ कर भी न सका, न ही सोच सका। अपने प्रेम को उसने अपने मौन के आवरण में छिपा दिया।"
मैंने पानी पिया, गहरी सांस ली और क्षणभर मौन हो गया।
"क्या यह कोई प्रेम कथा है? प्रेम कथाओं में अब मुझे कोई रुचि नहीं रह गई है।"
नवीन जी ने अपना मुख समुद्र की तरफ घुमा लिया।
मैं भी मौन हो गया। समय की रेत उड़ती चली जा रही थी।
'जब तक वे पूछेंगे नहीं, मैं आगे नहीं बताऊँगा।' और मैंने मौन को तीव्र आलिंगन दे दिया।
"तुमने अपनी बात पूरी नहीं बताई?" सहसा नवीन जी ने मुझे देखते हुए कहा।
"कहते हैं - अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसीं मा लिख मा लिख मा लिख।।"
"क्या? कुछ समझा नहीं।"
"इसका अर्थ है - अरसिक व्यक्ति के सम्मुख कविता पढ़ना, हे भाग्यदेवी, मेरे भाग्य में मत लिखना।"
"तुम तो घटना सुना रहे थे?"

"घटना भी कविता ही होती है।"

"तो?"

"आपने अभी कहा न कि आपको रुचि नहीं है।"

"ऐसा नहीं, थोड़ी है।"

"जब पूरी रुचि हो तब बता देना, मैं आगे सुनाऊँगा।" मैं पुन: मौन हो गया।

"मेरा तात्पर्य है कि तुम पूरी घटना सुनाओ। तुमने कहा था न कि उसमें मेरे लिए कुछ है।"

"हाँ, कहा था।"

"तो सुनाओ, मैं उत्सुक हूँ।"

मैं भी तो उत्सुक ही था।

"जब दोनों ने विद्यालय की शिक्षा सम्पन्न की तो युवक आगे पढ़ाई के लिए बड़े नगर चल गया। युवती वहीं छोटे गाँव में पढ़ने लगी।

नगर में जाकर भी युवक उस युवती को नहीं भूल पाया था। प्रथम प्रेम जो था, कैसे कोई भूल पाता?

यूं ही एक वर्ष व्यतीत हो गया। अवकाश के दिनों में वह गाँव लौटा। युवती को देखता किन्तु अभी भी वह अपने भीतर इतना साहस नहीं जुटा पाया कि अपनी बात युवती से कह सके। वैसे ही वह लौट गया नगर में।"

"अधिकांश प्रेम प्रकरण ऐसे ही होते हैं। इसमें विशेष क्या है?"

"एक दिन युवती के घर एक पत्र आया, युवती के नाम। प्रेम पत्र था उस युवक का। किसी प्रकार से प्रेम पत्र लिखने का साहस जुटा लिया होगा।

उसने स्पष्ट शब्दों में अपनी बात लिख दी। नीचे अपना नाम पता भी लिख दिया।"

"अच्छा किया।"

"किन्तु अच्छा हुआ नहीं। वह प्रेमपत्र युवती के हाथ आने से पूर्व उसके पिता के हाथ में आ गया। उसने सारे परिवार के सामने उसे पढ़ा। पूरा परिवार आघात में

था। सभी युवती को ही देख रहे थे। युवती अपनी दृष्टि झुकाए, बड़ी विकट अवस्था में स्थिर खड़ी रही। उसे कुछ न सुझा। पिताजी ने उसे खूब डांटा किन्तु उसे कभी नहीं पूछा कि उस युवक के लिए उसके मन में कोई भाव है या नहीं। न ही युवती ने कभी किसी को यह बात कही।"

"आगे क्या हुआ?" नवीन जी की जिज्ञासा बढ़ गई।

"पिताजी ने उसकी पढ़ाई रोक दी। सारे नियंत्रण, सारे बंधन लगा दिए उस पर। पिंजरे में बंदी बनकर रह गई बेचारी। चुपचाप वह सब सहने लगी। किन्तु एक दिन...।"

मैं अटक गया। मेरा कंठ रुँध रहा था। शब्द अटक रहे थे। जैसे कोई भीतर से शब्दों को पकड़कर बैठा हो। नवीन जी ने मुझे आँखों से ही अनेक प्रश्न पूछ लिए। मैंने गले को साफ किया, थोड़ा पानी पिया।

"मैं कहाँ था?"

"तुम कह रहे थे कि एक दिन..., क्या हुआ था एक दिन?"

"हाँ, एक दिन गाँव के मंदिर के पूजारी के बेटे के साथ युवती की सगाई कर दी गई। तीन महीने में विवाह भी।"

"पुजारी का बेटा क्या करता था? पूजा या कुछ और?"

'नया शिक्षक बना था वह। सरकारी नौकरी थी।"

"तो ठीक किया न पिताजी ने?"

"संसार की दृष्टि से तो यह उत्तम कार्य था किन्तु ...।" एक नि:श्वास छूट गया मुझ से।

"किन्तु?"

"बेटी से तो पूछते कि उसे क्या चाहिए था? प्रेमपत्र के पश्चात किसी ने बेटी से कभी उसकी इच्छा नहीं पूछी थी। और उसने भी तो किसी को कुछ नहीं बताया था। आज तक वह मौन ही रही है। वह युवक भी नहीं जानता कि युवती ने उसके प्रेम का स्वीकार किया था या नहीं।"

“यह बात कब की है?”

“जब मैं भी पढ़ाई करता था तब की है।”

“बहुत वर्ष हो गए। अब आज इसका क्या है?”

“इतने वर्षों से एक बात अभी भी मन को विचलित कर रही है।”

“कौन सी बात?”

“उस घटना का अभियोग कभी किसी न्यायालय में गया ही नहीं। पिता ने ही न्यायाधीश बनकर दंड दे दिया।”

“किसे?”

“निर्दोष को।”

“कौन निर्दोष?”

“वह युवती।”

“और दोषित?”

“युवक।

न तो उसे कोई दंड मिला न उसके अपराध का संज्ञान लिया गया। प्रेम पत्र लिखा था युवक ने। यदि प्रेमपत्र लिखना अपराध मानें तो वह अपराध तो युवक ने किया था। युवती ने तो कोई अपराध नहीं किया था। तो दंड युवती को क्यों? युवक को क्यों नहीं? युवक तो आज भी दंड मुक्त घूम रहा है कहीं।”

मैं थोड़ा निकट गया नवीन जी के।

“एक सत्यप्रिय अधिवक्ता के रूप में इस स्थिति में आप क्या करते? किसको दोषी मानते? किसके पक्ष में और किसके विरुद्ध न्यायालय में खड़े होते? किस न्यायालय में चलेगा यह अभियोग?”

“ऐसे में मैं…।”

वे अटक गए। समय के किसी कालखंड में वे चले गए। उनके मुख की रेखाएं कह रही थी कि वे समुद्र तट पर नहीं, अन्यत्र कहीं थे।

“सुनो।” मैंने उसे वर्तमान में लाने का प्रयास किया। लौटकर वह मुझे देखने लगे।

"उस युवक का नाम क्या था?"

"व्रज।"

"और उस युवती का?"

मैं चौंक गया। इस प्रश्न की मुझे अपेक्षा नहीं थी।

'उसका नाम बता दूँ या नहीं?'

'बता दूंगा तो बात बिगड़ भी सकती है।'

'नहीं बताओगे तो बात यहीं पूर्ण हो जाएगी।'

'तब तो इतने वर्षों का बोज उतरेगा कैसे?'

'तो बता देता हूँ। जो होगा देखा जाएगा।'

"उस युवती का नाम भद्रा है।" मैंने साहस कर दिया।

"भद्रा? मेरी बेटी का नाम भी भद्रा है।"

सहसा वह रुक गए। उसकी आँखों में एक विचित्र तेज उभर आया।

"ये सारी घटना तो मेरी बेटी भद्रा के साथ ही घटी थी।"

"आपने ठीक पहचाना। आपकी बेटी भद्रा की ही यह कथा है। आपने ही न्यायाधीश बनकर निर्दोष को दंड दे दिया और दोषित को छोड़ दिया। क्या यही आपकी सत्यप्रियता है?"

उन्होंने अपने हाथों की मुट्ठी से कुर्सी को कसकर पकड़ लिया। खड़े हो गए।

"कौन हो तुम?"

उनकी दृष्टि की अग्नि को मैंने परख लिया। कोई अभियुक्त किसी अधिवक्ता को अपना परिचय कभी नहीं देता। मैंने भी नहीं दिया। उठकर मैं चला गया।

सम्पन्न

[06] प्रश्न ही तो पूछा था

“आप घर वापसी कब कर रहे हो?” सहसा दुबई में ईरान की महिला पत्रकार ने उससे पूछ लिया।

“मेरा अभी भारत लौटने का मन नहीं है।” उसने उत्तर दिया।

“मेरा प्रश्न भारत के विषय में **नहीं, आपकी माँ के विषय में है।”**

प्रश्न सुनकर सहसा उसे अपनी माँ का स्मरण हो आया।

“आप अपनी माता से अंतिम बार कब मिले थे? कहाँ मिले थे?”

उस पत्रकार ने नया प्रश्न पूछ लिया।

वह विचलित हो गया, साढ़े तीन दशक पूर्व के काल में चला गया।

‘मैं माँ से मिलने गया था। उसे अपने साथ ले जाने के लिए गया था।’

माँ ने उसे द्वार पर ही रोके रखा था।

“माँ, अंदर आने को नहीं बोलोगी?” उसने कहा था।

“भीतर आकर इस घर को, यह तुलसी कयारे को, और हम सब को अपवित्र करना चाहते हो?”

“माँ, मैं..।”

“कालिंदी ने मुझे सब बताया था तब मैं उसकी बात मानने को तैयार नहीं थी। आज अपनी आँखों से देख लिया कि कालिंदी सत्य कह रही थी।”

माँ ने कालिंदी को देखा। उसे वह सब स्मरण हो आया।

कालिंदी और दीपक एक साथ नाटकों में काम किया करते थे। उन दिनों मुंबई में एक राष्ट्रीय स्तर की नाट्य स्पर्धा का आयोजन हुआ।

“दीपक, हमें इस अवसर को छोड़ना नहीं है। हम उस स्पर्धा में चलते हैं।”

“हाँ, कालिंदी मैं भी यही सोच रहा हूँ। किन्तु कौन सा नाटक लेकर जाना चाहिए?”

“नाटक तो अनेक हैं किन्तु हमें कुछ नया लेकर जाना होगा। क्या हम स्वयं एक नाटक नहीं लिख सकते?”

“क्या? हम नाटक लिखें?”

“हाँ, क्यों नहीं?”

“हम अभिनेता और अभिनेत्री हैं। लेखक थोड़े न हैं?”

“किन्तु प्रयास तो कर सकते हैं। कर लेते हैं।”

और दोनों नाटक लेखन में लग गए। लिखते चले गए।

“देखो, अब यह नाटक पूरा हो गया। एक बार इसे पढ़ लो।”

“दीपक, मैंने पढ़ा है। हम दोनों ने साथ मिलकर तो लिखा है। किन्तु...।”

“किन्तु क्या? कहो कुछ सूधार करना हो तो कर देते हैं।”

“नहीं, दीपक। इस नाटक में हमने अपनी ही संस्कृति, अपने ही सनातन का उपहास किया है। मुझे यह कुछ ठीक नहीं लग रहा।”

“कालिंदी, ऐसा कुछ भी नहीं है। अनेक नाटकों, कविताओं, फिल्मों और कथाओं में ऐसा होता आया है। हम भी थोड़ा ..।”

“ऐसे थोड़ा थोड़ा करते ही हम अपनी धरोहर से विमुख होते जा रहे हैं। हमें कोई दूसरा नाटक कर लेना चाहिए।”

“अब स्पर्धा के लिए समय ही कहाँ रहा है? हमें अब इसी नाटक पर काम करना होगा।”

“मैं नहीं करने वाली यह नाटक। तुम दूसरी नायिका ढूंढ लो।”

“कालिंदी, ऐसे अंतिम समय पर तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकती। एक बार इसे कर लो। पश्चात हम कभी ऐसा नाटक नहीं करेंगे। और कुछ उंच नीच हो गया तो दर्शकों से क्षमा मांग लेंगे।”

दीपक ने किसी भी प्रकार से कालिंदी को मना लिया। नाटक को स्पर्धा में प्रस्तुत किया गया।

वहाँ बड़े बड़े फिल्म और मंच के कलाकार आए हुए थे। अनेक दिग्दर्शक और निर्माता भी आए थे।

सभी नाटकों के मंचन के पश्चात निर्णायकों ने अंतिम परिणाम के लिए कुछ समय लिया। सभी कलाकार उसकी प्रतीक्षा करते हुए सभागृह में बैठे थे।

किसी ने आकर दीपक को कहा, “आपसे कोई मिलना चाहता है।”

और दीपक उसे मिलने चला गया।

समय पर निर्णय घोषित हुआ।

नाट्य लेखन, दिग्दर्शन, कथावस्तु, अभिनय सभी में दीपक और कालिंदी के नाटक को सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार के लिए चुना गया। कालिंदी और दीपक परिणाम से प्रसन्न थे किन्तु अनेक कलाकार और दर्शक इस परिणाम से अप्रसन्न थे। सभागृह में कर्ण उपकर्ण उस परिणाम के विरोध में सुर उठने लगे किन्तु परिणाम घोषित हो चुका था। अत: सबके सुर व्यर्थ ही हो गए।

जब सारा कोलाहल शांत हो गया, विजय का उन्माद थम गया तो कालिंदी ने सभी नाटकों का विश्लेषण किया।

‘लेखन में हमसे बढ़कर तीन नाटक थे। दिग्दर्शन में भी दो नाटक हमसे बढ़कर थे। अभिनय में न तो मेरा न ही दीपक का स्तर अन्य अभिनेताओं और अभिनेत्रिओं से उत्तम था। तो यह सारे परिणाम हमारे पक्ष में कैसे हो गए?’

उसने यह प्रश्न दीपक से पूछा।

“कालिंदी, हमारी कला को वे हमसे बढ़कर परख सकते हैं। कुछ विशेष ही देखा होगा हम में उन्होंने।”

“दीपक, यह बात गले नहीं उतर रही है। क्या हुआ है? कैसे हुआ है? परिणाम से पूर्व तुम किससे मीले थे? क्या हुआ था उस मिलन में? तुम सत्य को छिपा रहे हो।”

“कालिंदी, जो हुआ है वह हमारे दोनों के लाभ के लिए है।”

“कैसे?”

“कुछ निर्माताओं से मैं मिला था। हमारे नाटक में हमने भारत के विरुद्ध, भारतीय संस्कृति के उपहास में जो कुछ लिखा वह उन्हें पसंद आया। और ..।”

“और तुम स्वयं को बेच आए?”
“तुम भी मेरे साथ हो।”
“मैं? मैं नहीं हूँ तुम्हारे साथ।”
“हठ मत करो। ऐसे अवसर जीवन में एक ही बार आते हैं।”
“कैसा अवसर?”
“एक बड़ी फिल्म में मुझे नायक और तुम्हें नायिका के रूप में ले रहे हैं।”
“क्या मूल्य लगाया है उन्होंने हमारा?”
“अधिक कुछ नहीं। हमें फिल्म के लिए अपने नाम बदलने होंगे।”
“कैसे नाम?”
“मुझे दीपक से दानिश खान और तुम्हें कालिंदी से कौशर रखना होगा।”
“क्या?” कालिंदी क्षणभर में सारा खेल समझ गई। वह लौट आई अपने गाँव, अकेली। दीपक, दानिश खान बनकर मुंबई में ही रह गया। कुछ ही दिनों में उसकी प्रथम हिन्दी फिल्म भी बन गई। सफल हुई, चल पड़ी।
वैसे तो वह प्रेम कथा बताई गई किन्तु प्रेम कथा के माध्यम से विधर्मी विचारों को बड़े ही सुंदर रूप में छिपाकर भारतीय युवाओं के मन में घुसा दिए गए। कथा के संवाद, दृश्य, घटना और गीतों में भारतीय संस्कृति, सभ्यता, सनातन धर्म, और देश पर तीखे व्यंग किए गए। इन सभी का चरित्र हनन और मानभंग किया गया किन्तु प्रेम कथा की आड़ में भारत के दर्शक और विशेषकर युवा उसे देख नहीं पाए।
उस फिल्म की सफलता पर वह माँ से मिलने आया था। और माँ ने उसे कोई महत्व नहीं दिया।
“माँ, तुम चलो मेरे साथ। दुनिया के सारे सुख, सारा ऐश्वर्य तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।”
“अपने बेटे के मृतदेह पर मुझे कोई भी सुख और ऐश्वर्य नहीं चाहिए।”

माँ ने घर का द्वार बंद कर दिया। दानिश खाली हाथ लौट आया मुंबई। पश्चात कभी माँ से नहीं मिला।

धीरे धीरे उसकी फिल्में चलने लगी। सफल होने लगी। एक प्रतिष्ठित अभिनेता माना जाने लगा- दानिश खान।

जब भी कोई सनातन का त्यौहार या उत्सव आता, वह सनातन के विरुद्ध संदेश देने लगता।

'होली पर पानी बचाओ।'

'दिवाली पर पटाखे मत जलाओ।'

'उत्तरायन पर पतंग मत उड़ाओ।'

'रंगों से, पटाखों से और पतंग से प्राणियों और पंखियों में भय फैलता है, पर्यावरण नष्ट होता है।'

सनातन परंपराओं पर भी वह व्यंग करने लगा। ऐसे अनेक सूत्रों को वह फैलाने लगा। किन्तु सदा हलाल, हलाला, तीन तलाक, गौ मांस, बकरी की हत्या यदि पर वह नियोजित रूप से मौन रहता था।

सफलता के पश्चात उसकी फिल्म के निर्माता मोहसीन अहमद के घर एक संध्या वह चला गया।

बहुत सी बातें हुई, दावत भी हुई।

"आज की शाम के लिए आपका शुक्रिया, मोहसिन भाई जान।" जाते जाते दानिश ने कहा।

"दानिश भाई, आप तो घर के ही हो। ऐसे में शुक्रिया कैसा?"

"वो तो है।" दानिश ने हंसते हुए कहा।

"मोहसिन भाई, आपसे एक बात करनी थी। आप बुरा न माने तो कहूँ?"

"आप तो अपने हैं, कहिए। संकोच मत करिए।"

दानिश ने एक क्षण घर के भीतर झाँका। फ़िरदौस वहीं खड़ी थी। उसके होंठों पर सुंदर सी मुस्कान थी। दानिश ने उस संकेत को पढ़ा।

“मैं निकाह करना चाहता हूँ, मोहसिन भाई।”

“अरे वाह, कब कर रहे हो? तुम्हारा निकाह ऐसा करेंगे कि सब देखते रह जाएंगे। हमारे हीरो का निकाह है, कोई मामूली थोड़ा है।”

“शुक्रिया।”

“कोई लड़की ढूँढी है क्या?”

“ढूँढी तो है। बस आपकी रजामंदी चाहिए।”

“कौन है वह खुश नसीब?”

दानिश ने एक गहरी सांस ली। दो तीन बार पलकें झपकाईं।

“हम दोनों एक दुसरे को चाहते हैं।”

“अब नाम तो बता दो।”

“उसका नाम है फ़िरदौस।”

“क्या? फ़िरदौस? मेरी बेटी?” मोहसिन ने प्रथम फ़िरदौस को और पश्चात दानिश को तीखी दृष्टि से देखा।

“तुम अंदर जाओ फ़िरदौस।” वह चली गई।

“तुम्हें मेरा ही घर मिला था क्या? क्या समझते हो अपने आप को? एक दो कौड़ी के कलाकार को हीरो बना दिया तो तुम्हारे तो पर निकल आए। अपनी औकात में ही रहो। जैसे मैंने तुम्हें बनाया है, वैसे ही मिटा भी दूंगा। इस इंडस्ट्री में छोटा सा रोल भी कोई नहीं देगा। समझ रहे हो न तुम?”

मोहसिन के तेवर देखते हुए दानिश ने मौन ही रहना उचित समझा। वहाँ से वह बिना कुछ कहे लौट गया।

लौट तो आया किन्तु अपना मन, अपना सारा चित्त फ़िरदौस के पास छोड़ आया।

‘बिना फ़िरदौस के मैं रह नहीं सकता। और फ़िरदौस? क्या वह अपने अब्बू से विद्रोह कर मेरे साथ आ सकती है?’

‘कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु मान लो कि वह तुम्हारे पास आ गई तो क्या होगा?’

‘क्या होगा? दोनों साथ जीवन बीताएंगे। और क्या?”

‘और भी बहुत है दानिश खान।’

“क्या है?’

‘बिना मोहसीन के तुम इस माया नगरी में टिक ही नहीं सकोगे। सारी माया नगरी मोहसीन की उंगलियों पर नाचती है। या तो फ़िरदौस या यह मायानगरी।’

‘वो तो सत्य है किन्तु फ़िरदौस को मैं कैसे भूल पाऊँगा? मैं फ़िरदौस के बिना कैसे जी सकूँगा?’

‘जैसे कालिंदी को भूल गए, जैसे अपनी मां को भूल गए वैसे ही फ़िरदौस को भी भूल जाओ। बिना कालिंदी के, बिना माँ के भी तो जी रहे ही हो न तुम? वैसे ही फ़िरदौस के बिना जी लेना।’

‘किन्तु मैं.. ।’

‘अपने व्यवसाय के लिए, अपनी कीर्ति के लिए संबंधों को तोड़ना तुम जानते हो। संबंधों को खोना तुम्हारा चरित्र है। तुम्हें इसका अनुभव भी तो है। तुम में इतना सामर्थ्य तो है ही। तोड़ दो फ़िरदौस से भी संबंध। छोड़ दो उसे। किसी और का विचार कर लेना। इस मायानगरी में रहने के लिए इतना तो तुम कर सकते हो। हैं न?’

दानिश उठ खड़ा हुआ। घर के गवाक्ष से पर्दा हटा दिया, द्वार खोल दिया। गवाक्ष को लांघकर उसका अंतर्मन आकाश में कहीं विलीन हो गया।

दूसरे दिन वह सीधा ही मोहसिन से मिला और फ़िरदौस के लिए क्षमा मांग ली। दोनों के मन साफ हो गए। दोनों व्यवसाई जो थे। दोनों जानते थे कि दोनों को एकदूजे से लाभ है, साथ रहने में।

कुछ समय व्यतीत होने पर एक दिन मोहसिन ने कहा, “दानिश, कोई लड़की पसंद आई क्या? किसी को पटाया क्या?”

“नहीं भाईजान, अभी तक तो नहीं।”

"एक नई गायिका को हम ला रहे हैं। क्या उसकी आवाज है! और उससे भी बढ़कर उसका हुस्न, उसकी जवानी है।"

दानिश उसको देखता रहा।

"जानते हो वह कौन है?"

दानिश मौन रहा।

'उर्वशी नाम है उसका।"

"वह तो हिन्दू है?"

"यही तो। पंडिताइन है। उससे इश्क लड़ाओ और उससे निकाह कर लो। सारे हिंदुस्तान में खलबली मच जाएगी। फिर कुछ ही दिनों में वह धर्मांतरण भी कर लेगी। बोलो क्या विचार है?"

"पर वो फँसेगी कैसे?"

"फँसेगी। हम हैं न?"

और एक दिन उर्वशी का विनयभंग कर दिया मोहसिन ने। और विवशता में उर्वशी ने दानिश से निकाह कर लिया, धर्म परिवर्तन भी। उसके दो बच्चे भी हुए। और वे भी इस्लाम का अनुसरण करने लगे।

दानिश को इस मायानगरी में अभिनय करते करते साढ़े तीन दशक हो गए। तब उसने समग्र संसार के सम्मुख बात रख दी, "भारत में जब से नई सरकार आई है, मुझे कोई काम नहीं मिल रहा है। मेरे मुस्लिम होने के कारण ही मुझे कोई काम नहीं दे रहा है।"

बस और क्या? आग लगानी थी, लगा दी। दानिश के निवेदन ने चर्चा की गलियों में नई चर्चा छेड़ दी।

संकेत और उद्देश्य स्पष्ट थे- भारत में मुस्लिमों की स्थिति दारुण है, धर्म के नाम पर भेदभाव किए जाते हैं। समान अवसर नहीं दिए जाते। भारत का मुस्लिम भयभीत है। उनका जीवन दुष्कर हो गया है।

दुनिया को संदेश देना था, दे दिया। दानिश के पक्ष और विपक्ष में चर्चाएं, वाद विवाद, तर्क कुतर्क होने लगे। सभी ने उड़ता तीर पकड़ लिया।
उसने इस बात को ऐसे फैलाई कि नासमझ, सेक्युलर और भीरु हिन्दू भी उसकी बातों में बह गए। कुछ युवा भी बहक गए। दानिश और उसके दल का लक्ष्य सिद्ध होने लगा। विविध माध्यमों में दानिश के पक्ष में और भारत सरकार के विपक्ष में, सनातन के विरुद्ध में हवा बन गई। जब उस दल ने देखा कि तीर निशाने पर लगा है, वे सभी भारत छोड़कर दुबई में आ गए। वहाँ एशो आराम करने लगे।
उन्हें विश्वास हो गया कि जो काम बम धमाकों से नहीं हो सका वह इस दानिश ने अपने एक वक्तव्य से कर दिया। अपनी योजना की सफलता का जश्न मना रहे थे और दुबई में भी आए दिन पत्रकार परिषद में भारत के विरुद्ध, सनातन के विरुद्ध विषवमन करते रहे।
ऐसी ही एक पत्रकार परिषद में "आप घर वापसी कब कर रहे हो?" ऐसा प्रश्न ईरान की महिला पत्रकार ने उससे पूछ लिया। दानिश उसका उत्तर नहीं दे सका।
उसी पत्रकार ने आगे कहा, **"सत्य तो यह है दानिश खान कि पिछले साढ़े तीन दशकों से तुम एक ही प्रकार के चरित्र को निभाते आ रहे हो। एक ही प्रकार का अभिनय करते आ रहे हो। इस आयु में भी तुम्हें नायक का चरित्र निभाना है जो सोलह अठारह वर्ष की नायिका से प्रेम गीत गा रहा है। अब तुम बूढ़े हो गए हो इस बात को स्वीकार क्यों नहीं लेते?**
ऐसा होते हुए भी तुम धर्म के नाम पर विकटिम कार्ड खेलना चाहते हो तो सनातन में घर वापसी क्यों नहीं कर लेते? दानिश से पुन: दीपक क्यों नहीं बन जाते? सनातन का हृदय इतना विशाल है कि तुम्हारे सारे पापों को, सारे अपराधों को क्षमा कर देगा। अपने में समा लेगा। क्या तुममें इतना साहस है दीपक बनने का?"
पत्रकार के उस प्रश्न का उत्तर दानिश देने ही जा रहा था कि किसी ने संकेत कर उसे रोक दिया। बिना उत्तर दिए दानिश वहाँ से चला गया। वह आज भी वही

दुषप्रचार कर रहा है कि मुसलमान होते हुए उसे काम नहीं मिल रहा है और भोले सेक्युलर हिन्दू उस जाल में फंस रहे हैं।

प्रश्न पूछने वाली वह पत्रकार उस दिन के पश्चात कहाँ गई, कोई नहीं जानता। किसी ने भी उसे नहीं देखा, कहीं भी नहीं देखा। कोई नहीं जानता कि वह कहाँ लुप्त हो गई। किन्तु न जाने क्यों इस बात पर सारा संसार मौन है, निःस्पृह है। उसने तो केवल प्रश्न ही तो पूछा था।

सम्पन्न

[07] वो तीन दिन

“आपको नियमित दवाईयां लेते रहना है। लो ये ले लो।” केतकी के हाथ से दवाइयाँ लेते हुए पंकज ने दूर कहीं से आती हुई एक आकृति को देखा। दवाइयाँ उसके हाथ में ही रह गई।

“क्या देख रहे हो? दवाइयाँ तो ले लो।” पंकज ने झट से दवाइयाँ गले में डाल दी। केतकी ने उसे देखा, “क्या बात है? **तुम्हें कुछ हो रहा है? क्या डॉक्टर को फोन करूँ?”**

“नहीं।” इतना ही कहा और पंकज ने दूर से समीप आ रही आकृति के प्रति संकेत करते हुए कहा, “वो आ रहा है।”

केतकी ने आकृति को देखकर उसे पहचानने का प्रयास किया, “कौन है वह? तुम इतने भयभीत क्यों हो रहे हो?”

“वो...वो डाकू!” कहते हुए पंकज भीतर जाने लगा।

“डाकू? सारे भारत से डाकू प्रथा समाप्त हो गई है। अब तो चम्बल में भी डाकू नहीं रहे। तो हमारे गाँव में डाकू कैसे आ सकते हैं?”

“अभी तो तुम मुझे वो आ जाए उससे पूर्व घर में ले चलो।”

केतकी हाथ पकड़कर पंकज को घर के भीतर ले आई।

“दरवाजा बंद कर दो।” केतकी ने द्वार बंध कर दिए। पंकज को पानी दिया और उसके सम्मुख बैठ गई।

द्वार को खटखटाने की ध्वनि दोनों ने सुनी।

पंकज ने केतकी को देखा।

“वो आ गया। तुम दरवाजा नहीं खोलना।”

“क्यों? कौन है वह जो तुम इतना भयभीत हो?”

“वो डाकू है, कहा न?”

“कौन डाकू?”

“ओजस। वही जो हमारे साथ पढ़ाई करता था, वही ओजस! ओजस डाकू। तुम्हें स्मरण है न?”

“हाँ, वही जो सबको छेड़ता रहता था, सब से लड़ता रहता था? सब का कुछ न कुछ छिन लेता था।”

“तभी तो सब उसे ‘डाकू’ पुकारते थे।”

“सब उससे डरते थे।”

“शिक्षकों को भी वह...।”

पुन: द्वार पर उसके हाथकी पड़ी हुई थपकियाँ सुनाई दी।

“कितना भी ठोके, तुम दरवाजा नहीं खोलना। मैं उससे नहीं मिलना चाहता। आज ही मेरे ह्रदय की शस्त्रक्रिया के पश्चात मैं घर आया हूँ। ऐसे में ओजस के कारण मैं अपना स्वास्थ्य गिराना नहीं चाहता।”

“अब तो वह भी हमारी भांति बड़ा हो गया है। शांत हो गया होगा। तुम व्यर्थ ही...।”

“कुत्ते की पुंछ कभी सीधी हो सकती है?”

द्वार पर अब अविरत थपकियाँ पड रही थीं।

“ऐसे तो द्वार टूट जाएगा। पड़ोसी भी त्रस्त हो जाएंगे। मैं द्वार खोल देती हूँ। आने दो उसे भीतर। जो भी होगा, निपट लेंगे।”

केतकी ने द्वार खोल दिए। ओजस भीतर आया तो पंकज आँख बंद कर सोने का नाटक करने लगा।

“घर का द्वार बंद करके खोलने में इतना समय कोई लेता है क्या?” ओजस ने केतकी को घूरकर देखा।

“और तू? सोने का ढोंग क्यों कर रहा है?” पंकज की पीठ पर ओजस ने धब्बा मार दिया। पंकज ने झटके से आँख खोल दी।

“तेरी आँखों में नींद की एक बूंद भी नहीं है। ऐसे कोई सोता है क्या?”

पंकज ने विचित्र भाव से ओजस को देखा।

“दिन के ग्यारह बज रहे हैं। इस समय संसार का कोई मनुष्य तो क्या, कोई प्राणी भी नींद नहीं लेता।”

वह पंकज के समीप बैठ गया।

केतकी की तरफ मुड़ा, “कक्षा दस-क, रोल क्रमांक पैंतीस। केतकी मनोहर।” केतकी को देखने लगा।

“हाँ। मैं वही केतकी हूँ।”

“केतकी मनोहर अब केतकी पंकज हो गई है, हैं न?”

केतकी ने स्मित किया और पलकें झुका ली।

“प्रेम विवाह?”

केतकी के गालों पर एक गुलाब उग आया।

“केतकी, तुम तो कितनी सुंदर थी!”

“तो क्या आज मैं सुंदर नहीं हूँ?”

ओजस केतकी के समीप गया, उसे ऊपर से नीचे तक देखा।

“आज तो तुम उस सौन्दर्य को भी परास्त कर कहीं ऊपर उठ चुकी हो।”

“इतनी प्रशंसा से क्या आशय है तुम्हारा, डाकू ओजस?” पंकज ने अपनी उपस्थिति का भान कराया।

“आशय तो स्पष्ट है, पंकज। तेरी केतकी को भगा ले जाने का, तेरे सामने ही।”

केतकी के समीप जाकर बोला, “चल भाग चलते हैं।”

केतकी कुछ चरण पीछे हट गई।

“मैंने कहा था न? यह डाकू था और डाकू ही है। डाकू, तू पीछे हट जा। अब वो मेरी पत्नी है।”

“तो क्या? दूसरे की पत्नी को भगा नहीं सकते क्या?”

“ओजस, तुम बैठो। मैं तुम्हारे लिए कुछ लाती हूँ।”

“कुछ नहीं लाना है इसके लिए। इसे यहाँ से शीघ्र ही विदा कर दो।” पंकज बोल पड़ा।

“मैं तो तुझे ले जाने के लिए आया हूँ, उठ और चल मेरे साथ।” ओजस ने पंकज का हाथ पकड़ लिया।

“केतकी, मैं इसे ले जा रहा हूँ। भोजन के समय तक लौटा दूंगा। अरे हाँ, मैं भी तुम्हारे साथ ही भोजन करूंगा।”

ओजस ने पंकज को जिस भाव से देखा, पंकज स्वत: ओजस के साथ चल पड़ा। गाड़ी में बिठाकर ओजस उसे गाँव की सिम तक ले आया।

मार्ग में पंकज विचारने लगा, ‘तीन दिन पूर्व मेरे ह्रदय की शस्त्रक्रिया हुई है, कल ही अस्पताल से घर आया हूँ। कितने सारे लोग मेरे स्वास्थ्य के विषय में जानने के लिए, मुझे हिम्मत देने के लिए आ चुके हैं। अच्छा होता कि ओजस भी आया है तो मेरा स्थिति पूछता, मुझसे दो चार बातें करता। किन्तु वह तो ठहरा डाकू! इतने वर्षों में उसने अपनी डाकूगिरी नहीं छोड़ी। आयु के बढ़ने के साथ अच्छे अच्छे सुधर जाते हैं किन्तु यह ओजस वहीं का वहीं।

मैं भी उसे नहीं बताऊँगा कि मैं अस्वस्थ हूँ। देखता हूँ कि वह स्वयं मेरा हाल पूछता है या नहीं। केतकी को भी बता देता हूँ कि वह भी ओजस को कुछ ना बताए। उसे संदेश भेज देता हूँ।’ उसने अपने मोबाइल से केतकी को संदेश भेज दिया।

ओजस ने गाड़ी रोकी, “चल आजा। नदी के पास बैठते हैं।”

दोनों नदी के तट पर पहुँच गए।

“मैं इस पत्थर पर बैठ जाता हूँ।” पंकज बैठने गया तो ओजस ने उसे रोक दिया।

“नदी के पास आकर तट पर कौन बैठता है?”

“तो क्या हमें नदी में नहाना है?”

“वाह, क्या बात कही! चलें नहाने?”

“नहीं, आज नहीं।”

“ठीक है। नदी में थोड़ा उतरते हैं। आ जा।”

दोनों धीरे धीरे नदी के भीतर उतरने लगे। घुटनों तक बहते पानी में जाकर रुके।

ओजस झुका और अपने कानों को नदी के जल पर रख दिया।
“क्या कर रहा है तू?”
“पंकज, नदी को सुन रहा हूँ।”
“डाकू तो था ही तू, अब पागल भी हो गया है क्या? नदी को कोई सुनता है क्या? नदी थोड़े न बोलती है?”
“बोलती है। तू भी कान लगा, तू भी सुन उसे।”
“मुझे नहीं सुनना। तू ही बता दे नदी, क्या कह रही है।”
ओजस ने कानों को नदी से जोड़ दिया। जैसे नदी के मुंह में अपने कान डाल दिए हो। कुछ क्षण वह ऐसे ही बना रहा। पंकज उसे देखता रहा।
“हाँ, हाँ। ठीक है। यही कहना है न? ठीक ठीक। मैं बता दूंगा तुम्हारी सारी बातें पंकज को। हाँ, हाँ। कह देता हूँ। और कुछ? नहीं? अभी नहीं? ठीक है।”
ओजस ने नदी पर से कान हटा लिए।
“सुना तुमने? नदी ने क्या कहा?”
“नहीं तो? तू ही बता दे। तुझे ही तो नदी ने कहा है।”
“कहा तो मुझे ही है किन्तु वह कहना तुझसे चाहती है।”
“तो सीधे सीधे मुझे क्यों नहीं कहती? सब झूठ है। नदी कुछ नहीं कहती, कभी नहीं कहती। हाँ, तुम जैसे लोग नाटक कर लेते हैं नदियों को सुनने का।”
“नाटक? पंकज तुम इसे नाटक कहते हो?” ओजस हंसने लगा। उसने हथेलियों में नदी का जल भरा, उसे पंकज के मुंह पर मार दिया। पंकज बौखला उठा।
“क्या कर रहा है? मैं गिर जाता तो?”
“मैंने कुछ नहीं किया। यह तो नदी की आज्ञा थी तो मैंने बस उसका पालन कर दिया।”
“डाकू कहीं का। काम अपना, नाम नदी का?”
“नदी का और अपमान करेगा तो अब स्वयं नदी ही तुझे दंड देगी।”
“जा, जा। नदी कभी ऐसा नहीं कर सकती।” और पंकज हंसने लगा।

सहसा नदी में एक तरंग उठी। उसने पंकज को गिरा दिया। ओजस ने उसे संभाल लिया।

“पंकज, भयभीत न हो। बस नदी से क्षमा मांग लो। नदियां क्षमाशील होती हैं, माँ की भांति। नदियों को हम माता कहते हैं न?”

पंकज वैसे ही खड़ा रहा।

दूसरी तरंग आई, पंकज को धक्का देती हुई आगे निकल गई। पंकज अचंभित हो गया।

“अब तो क्षमा मांग लो।”

“क्षमा? कर देगी क्षमा मुझे?”

“हाँ। हाँ। मांग कर तो देखो।”

“पहले धक्का देती है और अब क्षमा दे देगी? कैसी है यह नदी? माँ तो ऐसा नहीं करती?”

“माँ लालन और ताड़न दोनों करती है। नदी भी।”

पंकज को अपनी माँ का लालन और ताड़न दोनों का स्मरण हो आया। उसने क्षमा मांग ली। नदी की तरंगें शांत हो गई। दोनों नदी से तट पर आ गए।

तट पर एक वृक्ष के नीचे एक शीला पर बैठ गए दोनों।

“पंकज, इस वृक्ष को जानता है?”

पंकज ने वृक्ष को देखा, ओजस को देखा।

“हाँ। इसी वृक्ष पर से तूने मुझे धक्का देकर गिराया था। वो तो अच्छा था कि उन दिनों यह शीला यहाँ पर नहीं थी, नहीं तो मेरा क्या होता?”

“मन तो आज भी कर रहा है तुझे धक्का देने को।”

“तो मार दे आज भी।”

“मार तो देता किन्तु क्या करूँ, यह शीला जो यहाँ आ गई है?” वह हंसने लगा।

पंकज उसे देखने, ‘ये भी न, इतना बड़ा हो गया किन्तु अभी भी गांभीर्य का अभाव है। इतना चंचल क्यों है यह?’

ओजस हँसकर शांत हो गया।

“ओजस, तूने यह तो बताया ही नहीं कि नदी क्या कह रही थी।”

“नदी? हाँ वह कह रही थी कि विद्यालय छोड़ने के पश्चात इतने वर्षों में तू एक बार भी इस नदी तक नहीं आया। क्या नदी सत्य कह रही थी?”

पंकज ने कुछ स्मरण करने का प्रयास किया।

“हाँ, नदी सत्य कह रही है। कितने वर्ष बीत गए, मैं यहाँ नहीं आया।”

“नदी सब जानती है।”

“और समय आने पर कह भी देती है। मान गया मैं, ओजस।”

“तो अब नदी को वचन दो कि तुम यहाँ आया करोगे।”

पंकज उठा और नदी को प्रणाम कर कुछ बोला। लौट आया।

“घर लौट चलें? केतकी ने भोजन बना लिया होगा।”

“अभी तो वहाँ जाना है, दूर।” ओजस ने हाथ से दिशा निर्देश किया।

“कहाँ?”

“शिव मंदिर।”

“नहीं, अभी नहीं। अभी तो मुझे घर छोड़ दो।”

“छोड़ दो? क्या तात्पर्य है तुम्हारा? केतकी के हाथ का भोजन करके ही जाऊंगा मैं।”

दोनों घर लौट आए।

“केतकी, सारे गाँव में तुझे और कोई नहीं मिला जो तूने इससे विवाह कर लिया?”

“क्यों? कोई बुराई है इसमें?”

“तुम्हें नहीं दिख रही न? कोई बात नहीं। प्रेम में सब कुछ दिखना बंद हो जाता है। किन्तु पंकज, तुझे भी और कोई कन्या नहीं मिली जो इस नकचडी से..?”

“चुपचाप निकल अब यहाँ से, भोजन करके। जब से आया है कुछ न कुछ करता रहा है।”

“अरे, घर में आए अतिथि से कोई सज्जन ऐसा व्यवहार थोड़े करता है? कोई संस्कार नहीं दिए माता पिता ने? या तुमने लिए ही नहीं?”
पंकज ने कोई उत्तर नहीं दिया। केतकी ने दोनों की नोंक झोंक में भोजन परोस दिया। भोजन सम्पन्न हो गया।
“तो अब तुम जा सकते हो, ओजस डाकू।”
“भोजन से तृप्त होने के पश्चात अतिथि को विश्राम कराने की परंपरा है। भूल गया क्या?”
पंकज ने ओजस को तीव्र दृष्टि से देखा।
“केतकी, मुखवास दे दो। मैं चला जाऊंगा।”
मुखवास लेते हुए ओजस बोला, “अभी तो मैं जा रहा हूँ। कल पुन: आऊँगा।”
जाते हुए ओजस के मुख पर एक स्मित पंकज और केतकी ने देखा।
‘कल न आए तो अच्छा।’ पंकज मन ही मन बोला।

%&%&

पंकज घर के आँगन में बैठा था। प्रात:काल से ही वहाँ बैठे बैठे बार बार घड़ी देख रहा था। केतकी उसे दवाई और नास्ता दे चुकी थी। दो बार नींबू पानी भी पंकज पी चुका था। किन्तु उसकी आँखें द्वार पर ही थी।
“वह नहीं आएगा आज।”
“केतकी, वह बोलके गया था कि वह आज भी आएगा। अब तक तो उसे आ जाना चाहिए था।”
“कैसे आता? तुमने उसके साथ कितना अयोग्य और अपमानजनक व्यवहार किया था। इतना होने पर कोई नहीं आता।”
“वह तो मैं क्रोधित था..।”

“तुम्हारे मन में अभी भी उसकी पुरानी छबि है इसलिए तुमने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया था न?”

पंकज मौन रहा। द्वार को देखता रहा। केतकी भीतर चली गई।

दोपहर का भोजन भी सम्पन्न हो गया। दोनों ने विश्राम भी कर लिया किन्तु ओजस नहीं आया। पंकज पुन: आँगन में बैठ गया, प्रतीक्षा करने लगा।

‘तुम एक डाकू की प्रतीक्षा कर रहे हो, पंकज।’

‘ठीक है किन्तु मैं प्रतीक्षा क्यों कर रहा हूँ?’

‘वो तुम जानो।’

वह स्वयं से बात करता हुआ प्रतीक्षा करता रहा और संध्या ढल गई तब जाकर कहीं द्वार पर ओजस की आकृति दिखी।

“कहाँ था पूरा दिन?”

“तूने तो ना बोला था न यहाँ आने को? कैसे आता मैं?” ओजस पंकज के सामने ही खड़ा हो गया।

“वो तो मैं वैसे ही बोल गया था।”

“किन्तु मैंने उसे वैसे ही नहीं लिया।”

“मित्रों की बात का बुरा नहीं मानते।”

“तभी तो आया हूँ, अन्यथा...।”

“अब आ ही गया है तो बैठ भी जा।”

ओजस बैठ गया। सूर्यास्त देखते देखते दोनों एक दूसरे के बोलने की प्रतीक्षा करने लगे। सूर्यास्त हो गया।

“अंधेरा हो चुका है, दोनों अंदर आ जाओ।”

केतकी के कहते ही दोनों भीतर आ गए।

“अभी भोजन में क्या लोगे?”

“ओजस से ही पूछ लो।” पंकज ने ओजस की तरफ देखा।

“डाकू लोग घर में जो भी होता है उसे डाका डालकर खा लेते हैं।” ओजस रसोई घर में जाकर दो सेब उठा लाया। एक पंकज को दिया, दूसरा खाने लगा।

“तू चेस खेलेगा?”

“ओजस, घर में चेस है ही नहीं।”

“कोई बात नहीं पंकज, मैं लेकर आया हूँ साथ में। अब तो खेलेगा न?”

चेस बिछाया गया, घोड़े-हाथी-ऊंट आदि सजा दिए गए।

एक एक कर तीन बार पंकज ने ओजस को परास्त कर दिया।

भोजन के पश्चात ओजस बोला, “अब मैं चलता हूँ।”

“कल तुम आओगे न?”

“तू बोले तो मैं आ जाऊंगा।”

“नहीं बोलता तो?”

“तो अवश्य आऊँगा।”

“कितने बजे आएगा?”

“प्रात: साढ़े छ: बजे।”

“इतनी शीघ्र?”

“हाँ।”

“इतनी प्रभात में क्या करेंगे?”

“साढ़े छ: बजे तैयार रहना।”

ओजस चला गया।

###

समय पर ओजस आ गया। पंकज भी सज्ज था।

“केतकी भी हमारे साथ आ रही है। तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं?”

“क्या बात है? डाकू के साथ नायिका आने को तत्पर है!” तीनों हंस पड़े। चल पड़े पहाड़ी की तरफ।

पहाड़ी की तलहटी में गाड़ी रुकी।

“इस मंदिर को देखो। कुछ स्मरण आ रहा है?” ओजस ने दोनों की तरफ देखकर कहा।

“मुझे तो यह भी स्मरण नहीं आ रहा है कि मैं और पंकज इस मंदिर में अंतिम बार कब आए थे।”

“आए हो तो स्मरण हो न? वर्षों से हम यहाँ नहीं आए, केतकी।”

“मैं तो हमारे विद्यालय के समय के संस्मरणों की बात कर रहा था। कुछ स्मरण आ रहा है क्या?”

पंकज और केतकी एक दूसरे को देखने लगे।

“मैं ही स्मरण करा देता हूँ। चिंता न करो।”

दोनों के मुख की रेखाएं कुछ सामान्य हो गई।

“आओ, प्रथम शिवजी का दर्शन कर लेते हैं।” तीनों ने दर्शन किए।

“शिवजी का दर्शन पूरा दिन होता है तो इतनी प्रात: यहाँ लेकर क्यों आए हो, श्रीमान ओजस?”

“कुछ समय प्रतीक्षा कर ले, समाधान स्वयं मिल जाएगा।”

तीनों मंदिर के प्रांगण में उगते सूर्य की कोमल किरणों में पवित्र होने लगे। समय की कुछ बूंदें बरस गई। सहसा मंदिर का घंट बजने की ध्वनि तीनों ने सुनी। तीनों ने एक दूजे को देखा और भीतर जाकर शिवजी की आरती में सम्मिलित हो गए। आरती सम्पन्न हुई, पूजारी जी ने तीनों को स्वस्ति मंत्रों से आशीर्वाद दिए। प्रसाद दिया। पुन: एक बार शिवजी को नमन कर प्रांगण में लौट आए।

ओजस दोनों को देखने लगा। उस दृष्टि में कुछ प्रश्न थे किन्तु पंकज और केतकी उसे पढ़ न सके।

“क्या अभी भी कुछ स्मरण नहीं आ रहा?”

दोनों के मौन ने ओजस को उत्तर दे दिया।

“यहाँ आओ दोनों।” ओजस ने दूर संकेत करते हुए कहा, “वहाँ देखो, क्या दिख रहा है?”

दोनों ने उस दिशा में देखा।

“वो तो हमारा विद्यालय है।” दोनों ने एक साथ कहा।

“वाह, आप दोनों ने उसे पहचान लिया।”

“उसे तो..।”

“तो अब कुछ स्मरण आ रहा है या अभी भी?”

दोनों समय की बह चुकी धारा में कुछ खोजने का प्रयास करते रहे, विफल होते रहे।

“अब तू ही बता दे कि कब से तू क्या स्मरण कराना चाहता है?”

“विद्यालय जाते समय हम सब इसी शिव मंदिर में आते थे। आरती के दर्शन करते थे। उसके पश्चात ही विद्यालय में जाते थे।”

“अरे हाँ। ये बात तो भूल ही गया मैं।”

“केतकी, तुम भी भूल गई?”

“मुझे तो वह भी अब स्मरण आ रहा है कि ओजस के होते हुए आरती के समय घंट बजाने का साहस अन्य किसी का हो ही नहीं सकता था। ठीक कह रही हूँ न ओजस?”

“यह प्रशंसा है या उपालंभ, केतकी? किन्तु मानना पड़ेगा तुम्हारी स्मरण शक्ति बड़ी सशक्त है।”

“ये सब तुम्हारे कारण हुआ है। अन्यथा तो हम दोनों यहाँ का मार्ग ही भूल चुके थे। और न जाने इस मार्ग पर हम कब आते।”

“अब एक और भुला हुआ प्रकरण आप दोनों को मैं स्मरण करानेवाला हूँ।” ओजस के मुख पर वही परिचित नटखट भाव उभर आया।

“कौन सा?” दोनों ने एक साथ पूछा।

“वह प्रकरण इस मंदिर के इसी प्रांगण में हुआ था। कुछ स्मरण आ रहा है आप दोनों को?”

“यहाँ तो अनेक घटनाएं होती रहती थी।”

“मैं घटनाओं की नहीं, प्रकरण की बात कर रहा हूँ।”

“इतना ही स्मरण है कि हमारे संगीत शिक्षक हम सब को इसी प्रांगण में लेकर आते थे और हम संगीत यहीं सीखते थे।”

“एक बात समज नहीं आई। विद्यालय में भी संगीत सिख सकते थे किन्तु वे यहाँ क्यों लेकर आते थे?” केतकी ने पूछा।

“वो सुर में नहीं गाते होंगे। तभी तो विद्यालय से दूर भेज देते होंगे उन्हें।” ओजस हंस पड़ा।

“नहीं ओजस, वे बड़े सुरीले थे।” केतकी बोली।

“सुरीली तो केतकी भी थी। हैं न केतकी?” पंकज ने केतकी को देखा।

“पंकज, तुम्हें केतकी का सुर में गाना स्मरण है किन्तु उस प्रकरण का स्मरण नहीं है।”

“तुम किस प्रकरण की बात कर रहे हो? स्पष्ट कहो ओजस।”

ओजस ने अपने थेली से एक बड़ा सा कागज निकाला। उसके भीतर कुछ था जिसे देखने को दोनों के नयन आतुर हो उठे।

“क्या है इसमें?”

“बताता हूँ। प्रथम आप दोनों अपनी आँखें बंद कर लो।” दोनों ने वही किया।

ओजस ने बड़े कागज के आवरण को हटाकर छोटे कागज को अनावृत किया। उसे एक शीला पर रख दिया।

“आँखें खोलकर यहाँ आ जाओ।” दोनों आ गए।

“यह तो कोई फटा हुआ कागज है। इसे तुमने जोड़ा है क्या? और इसे उल्टा क्यों रखा है? इसे सीधा पलट दो तो कुछ समज आए।”

“केतकी, तुम ही इसे सीधा पलट दो।”

केतकी ने उसे पलट दिया। देखते ही दोनों चौंक गए। ओजस की उपस्थिति का विस्मरण करते हुए दोनों एक दूसरे को देखने लगे। उसे उस प्रकरण का स्मरण होने लगा जिसका उल्लेख बार बार ओजस कर रहा था।
उस दिन संगीत का वर्ग था। इसी प्रांगण में शिक्षक आलाप ले रहे थे। आरोह अवरोह सीखा रहे थे। सभी उसका अनुकरण करते हुए गा रहे थे। केतकी भी उसमें खो गई थी, सुर में गा रही थी। उसके बाल लहरा रहे थे। मुद्रा आकर्षक थी।
पंकज को गाने में कोई रुचि नहीं थी। वह केतकी को देख रहा था। सहसा उसने कागज पैंसिल निकाल ली और गाती हुई केतकी का चित्र बनाने लगा।
चित्र बनाने में वह इतना खो गया कि उसे ध्यान ही नहीं रहा कि संगीत का वर्ग समाप्त हो गया और कब शिक्षक ने उसे चित्र बनाते हुए पकड़ लिया।
“संगीत के वर्ग में तुम चित्र बना रहे हो? किसका चित्र बना रहे हो?” शिक्षक ने डांट दिया। पंकज डरा हुआ था, निरुत्तर रहा।
सभी ने उस चित्र को देखा था। केतकी ने भी। देखते ही वह वहाँ से दौड़ गई थी। शिक्षक ने झट से चित्र के तीन चार टुकड़े कर दिए और उसे वहीं फेंक दिया।
सब के जाने के पश्चात ओजस ने उन टुकड़ों को उठा लिया। वह चित्र अपूर्ण था, टुकड़ों में बंटा हुआ था। घर जाकर ओजस ने उसे जोड़ दिया। बिना किसी आशय के अपने पास रख लिया।
समय के साथ सभी उस घटना को भूल गए। किन्तु आज उस अपूर्ण चित्र को देखकर पंकज और केतकी को उसका स्मरण हो आया। दोनों के मुख पर नूतन प्रेमियों के भाव प्रकट हो गए।
दोनों असमंजस में थे, दुविधा में थे, मौन थे। बस एक दूसरे को देख रहे थे।
ओजस ने समय के कुछ टुकड़ों को बहने दिया। पश्चात बोला।
“मैं भी यहाँ हूँ। सोचा आप दोनों को स्मरण करा दूँ।”
ओजस के शब्दों ने दोनों के मध्य रचा दृष्टि सेतु भंग कर दिया।
“तुम अभी भी वही ओजस हो। नटखट। चंचल...।”

“प्रशंसा के लिए धन्यवाद.। किन्तु अभी वह घटना पूरी नहीं हुई है।”

“क्या?”

ओजस ने एक पैंसिल पंकज को दी।

“इस अपूर्ण चित्र को आज तुम पूर्ण कर दो।”

पंकज की आँखें सतेज हो गई। उसने केतकी को देखा। उस दृष्टि में केतकी से आग्रह था- उसी मुद्रा में उसी स्थान पर जाकर बैठने का।

“ओजस, तुम भी न बड़े वो हो।” केतकी ने पलकें झुका ली।

“वो क्या?”

“फंसा दिया न मुझे?”

“अब तुम जानो और तुम्हारा पंकज। मैं तो चला।” ओजस कहीं दूर चला गया।

केतकी उसी स्थान पर, उसी मुद्रा में बैठ गई। अनायास ही वह गाने लगी। पंकज ने चित्र पूर्ण कर दिया।

चित्र को देखकर दोनों मन ही मन शृंगार रस में डूब गए।

“चित्र के भीतर से दोनों बाहर आ जाओ। हमें घर लौटना भी है।”

दोनों जागे और तीनों घर आ गए।

“आप दोनों बैठो, मैं कुछ नासता लाती हूँ।” केतकी भीतर जा रही थी। ओजस ने उसे रोका।

“रहने दो केतकी। मुझे अभी जाना होगा।”

“अभी तो पूरा दिन बाकी है। बैठो, बातें करो।”

“और यह भी बताओ कि तुमने यह गाड़ी कैसे खरीद ली? वैसे तो तुम ढंग का कुछ करते ही नहीं थे।”

“पंकज, तुम जानना चाहते हो कि इतने वर्षों में मैंने क्या किया? क्या पाया? कहाँ था? हैं न?”

“यही तो।”

“मित्र, अभी तो मेरे पास इन सबका समय नहीं है।”

“यूं कह देता कि तुम बताना नहीं चाहते तो ..।”
“केतकी मुझे अब जाना होगा।” ओजस ने स्मित भी दिया।
“कल?”
“कल मैं नहीं आऊँगा।”
“तो कब आएगा?”
“मैं नहीं जानता, पंकज।”
ओजस जाने लगा।
“ओजस रुको।” केतकी के कहने पर वह रुक गया। उसे प्रश्न भरी दृष्टि से देखने लगा।
“एक बात सत्य सत्य बताना, ओजस।”
“क्या?”
“चेस में तीनों बार पंकज से तुम जान बूझकर हारे थे न?”
ओजस ने पंकज को देखा। पुन: केतकी को देखा। एक रहस्यमय स्मित देते हुए चला गया। जाते हुए ओजस को दोनों देखते रहे।
“चला गया, ओजस चला गया।” नि:श्वास लेते हुए दोनों बैठ गए।

$ $ $

दूसरे दिन पंकज और केतकी डॉक्टर के पास थे। आज पुन: पंकज का चेक अप था। कुछ जांच करने के पश्चात डॉक्टर ने दोनों को बिठाया।
दोनों के मन में रिपोर्ट के लिए आशंका थी, डर भी था।
‘तीन दिनों में न तो दवाइयों का नियम से ध्यान रहा न ही खान पान के समय का। निश्चय ही डॉक्टर से डांट पड़नेवाली है। यह सब ओजस के कारण ही हुआ है।’
दोनों के मन में एक समान से विचार चल रहे थे।

“ये रिपोर्ट देखो।”
“ठीक नहीं है न डॉक्टर?” केतकी ने उदास होते हुए कहा।
“केतकी, इन तीन दिनों में क्या किया था तुमने?”
“क्यों? कुछ गड़बड़ अवश्य हुई है। हैं न?”
“इतनी तीव्र गति से किसी रोगी में सुधार होते हुए मैंने कभी नहीं देखा। कौन सा जादू कर दिया तुमने?”
डॉक्टर की बात सुनकर दोनों की सांसें शांत हुई।
“जादू करनेवाल जादू करके चला गया, डॉक्टर।” केतकी ने कहा।
पंकज और केतकी की आँखों में नूतन ओजस उभर आया।

सम्पन्न।

[08] अनुभूति

घंटों प्रतीक्षा के पश्चात अंततः मैं मंदिर में स्थित ईश्वर के दर्शन करके बाहर निकला। मंदिर के प्रांगण में कुछ समय रुककर मैं सोचने लगा।

‘इतनी प्रतीक्षा कर, दर्शन तो कर लिए किन्तु क्या पाया मैंने? क्या कोई दिव्यता का अनुभव हुआ? कोई अनुभूति हुई?’

मेरे प्रश्न का उत्तर **मिला, ‘नहीं। कुछ भी तो नहीं।’**

मैंने दर्शन कर रही भीड़ को देखा। सभी कुछ न कुछ क्रिया द्वारा ईश्वर से जुडने का प्रयास कर रहे थे। मैंने भी उनका अनुकरण किया- कदाचित कुछ प्रतीति हो जाए - की अपेक्षा में।

व्यर्थ!

सभी क्रियाएं, सभी चेष्टाएं विफल रही। बाह्य रूप से तो मैं ईश्वर के लिए सब कुछ कर रहा था किन्तु मेरे मन में, हृदय में कुछ भी नहीं हो रहा था। जैसे मैं यंत्रवत सब कुछ कर रहा था।

‘इतनी दूरी से यहाँ आया, पहाड़ पर चड़ने का कष्ट उठाया, लंबी प्रतीक्षा की, ईश्वर के दर्शन भी किए किन्तु वह अनुभूति कहाँ जिसकी अपेक्षा लेकर मैं यहाँ आया था?’ मेरे मन ने विद्रोह कर दिया। मैं विचलित हो गया।

‘सारे उद्यम व्यर्थ।’

बस यही एक विचार अविरत मेरे मन पर सवार हो गया। उस विचार ने मुझे उद्विग्न बना दिया।

मन को शांत करने के लिए मैं मंदिर परिसर से थोड़े अंतर पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वैसे तो वहाँ पर भी भीड़ थी किन्तु मैंने स्वयं को उससे काटकर, आँखें बंद करने का यत्न किया।

मन शांत हुआ किन्तु प्रश्नों के समाधान अभी भी मुझ से दूर कहीं छिपकर मुझे देखते होंगे। मैं मानता था कि मेरे प्रश्नों के समाधान इसी मंदिर में मिलेंगे। किंतु कैसे? कब? कौन करेगा? इन बातों को मैं नहीं जानता था।

मैं बस बैठा रहा, मौन। मंदिर की लहराती ध्वजा, ध्वजा का दंड, पीछे व्याप्त आकाश। उन सब को देखता रहा, बिना किसी ध्येय के।

सहसा एक पंखी ध्वजा के दंड पर आकर बैठ गया। कुछ क्षण तक वहीं बैठा रहा। पश्चात उड़कर नीचे आ गया। प्रांगण में एक पुजारी शांत मुद्रा में खड़े थे, पंखियों को दाना डाल रहे थे। अनेक पंखी दाना खा रहे थे। वह पंखी भी वहीं पुजारी के समीप आ गया। पुजारी की हथेली से उसने कुछ दाने चुगे और पुन: आकाश में उड गया- कहीं अदृश्य हो गया।

मैंने पुन: पुजारी को देखा। वे अभी भी उसी मुद्रा में दाने डाल रहे थे।

'तेरे प्रश्नों का समाधान पुजारी जी से मिल सकता है। उनसे बात कर।' मन ने मुझे सूचना दी। मैं पुजारी जी के निकट गया।

"वत्स, तुम्हारे मन में प्रश्न उठ रहे हैं, संदेह उत्पन्न हो रहा है। मिलेगा, समाधान मिलेगा। संदेह का निवारण भी होगा।"

मेरे कुछ कहने से पूर्व ही उन्होंने इन शब्दों से मेरा स्वागत किया। मैं अचंभित रह गया। अवाक सा उन्हें देखता रहा।

उनके मुख पर एक शांत स्मित उभर आया, "वत्स, इस मार्ग पर आगे दाहिने हाथ पर मूड जाना। वहाँ एक फूल बेचनेवाली बैठती है। उससे जाकर मिलो। तुम्हारे सारे प्रश्न, सारी जिज्ञासा वह जानती है। जाओ, मिल लो उससे।"

मैं दुविधा में वहीं खड़ा रहा।

'पूजारी स्वयं उत्तर देने के स्थान पर एक फूल बेच रही किसी मालन के पास क्यों भेज रहे हैं? क्या वह पूजारी से अधिक ज्ञानी होगी?'

"संकोच मत करो। जाओ, वह तुम्हारी ही प्रतीक्षा में है।"

यंत्रवत पूजारी जी के शब्दों का अनुसरण करते हुए मैं चलने लगा। दाहिने मोड पर मूड़ गया। मोड पर ही एक मालन पुष्पों की टोकरी लिए फूल बेच रही थी। उसकी टोकरी में अनेक फूल थे।
मैं फूलों से आकृष्ट होने लगा। अनायास ही फूलों की तरफ खींचा चला गया। पुष्पों के समीप जा पहुंचा।
"भक्त, यहाँ पर बैठो।"
मालन ने एक स्थान की ओर संकेत करते हुए कहा। वहाँ एक पत्थर था, मैं उस पर बैठ गया। मालन को देखने लगा।
सीधी सादी मालन, सीधे सादे हाव भाव। सादे वस्त्र। श्याम मुख। दोनों हाथों की कलाइयों में ताजे रंगबिरंगी फूलों के कंगन। ऐसे ही पुष्पों का गजरा बालों में।
"पूजारी जी ने भेजा है न?" उसने बात प्रारंभ की।
"हाँ। एक युवा पूजारी वहाँ प्रांगण में पंखियों को दाना डाल रहे थे। उन्होंने कहा और मैं चला आया यहाँ।"
मेरी बात पर हंस पड़ी वह। उसके हास्य में भी रंगीन पुष्पों की वर्षा का अनुभव हुआ। उसके साथ ही अनेक सुगंध भी यहाँ उपस्थित है उसका मुझे सहसा ध्यान आया।
"फूलों के रंगों को देख लिया, सुगंध को कैसे चूक गए?" उसने प्रश्न किया, स्मित भी।
"क्या?" मैं चौंक गया।
उसने मुझे देखा, कुछ अगम्य दृष्टि से। ऐसे ही गूढ स्मित देती हुई बोली, "कभी किसी उद्यान में गए हो?"
"उद्यान? मैं यहाँ मेरे...।"
"उनका समाधान ही बता रही हूँ, भक्त।"
और अब अधरों के स्थान पर आँखों ने पूछ लिया, "कभी किसी उद्यान में गए हो?"

मैंने उस प्रश्न को पढ़ लिया।

“यह कैसा प्रश्न है? सभी कभी न कभी किसी न किसी उद्यान तो गया ही होता है।”

“आप गए हो या नहीं?”

“गया हूँ, अनेकों बार। तो?”

“उद्यान में प्रवेश करने से पूर्व क्या होता है?”

“प्रवेश से पूर्व? बिना देखे कुछ अनुभव कैसे हो सकता है?”

“आपको अपनी ये बात स्मरण रखनी है। रखोगे न?”

मैं उसे देखता रहा।

“मन में प्रश्न है- इस भव्य और पवित्र मंदिर तक आकर, मंदिर में ईश्वर का दर्शन करके, पूजा अर्चना करके भी कुछ अनुभूति क्यों नहीं हो रही है? हैं न?” उसने कहा।

मेरी पलकों ने स्वत: सम्मति तो प्रकट कर दी किन्तु दूसरे ही क्षण मैं पूछ बैठा।

“मेरी दुविधा के विषय में मैंने तो कुछ कहा ही नहीं?”

वह हंसने लगी।

“आप बार बार, मेरी प्रत्येक बात पर उत्तर अल्प देती हो, हंस अधिक देत्ती हो। मुझे उत्तर चाहिए।”

“वही तो दे रही हूँ। अधीर क्यों होते हो?”

“कहाँ है उत्तर?”

“मेरे स्मित में ही उत्तर निहित होते हैं, बस उन्हें पढ़ना सिख लो।”

“आप कोई बात सीधे सीधे नहीं बता सकती, शब्दों के माध्यम से? स्मित से नए नए रहस्यों को क्यों जगा रही हो?”

“तो अब मैं ही उन रहस्य को उद्घाटित कर देती हूँ।”

अपने स्थान से वह उठी। वह चलने लगी, मुझे पीछे आने के संकेत देते हुए। मैं चल दिया उसके पीछे।

“वहाँ देखो। पूजारी जी वहीं मिले थे न?”

मैंने सम्मति दी।

“वे युवा थे न?”

मैंने पुन: सम्मति दी।

“इस मंदिर में कोई पूजारी नहीं है। जो भी हैं, सभी पूजारीन हैं। युगों से इस मंदिर में नर पूजारी नहीं है।”

“क्या? मैंने अपनी इन इंद्रियों से देखा था, उनसे बात की थी। वे पंखियों को दाना डाल रहे थे। एक पंखी मंदिर की ध्वजा से उड़कर वहीं आया था। पूजारी की हथेली से दाने लेकर पुन: आकाश में उड़ गया था।”

“नहीं। वह पंखी अद्दश्य हो गया था।”

मैं चकित रहा गया, “हाँ, पंखी अद्दश्य हो गया था।”

“तो वो पूजारी?”

उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

मैं चारों तरफ देखने लगा। कदाचित वह पूजारी कहीं दिख जाए। नहीं दिखे।

‘ऐसा कैसे हो सकता है?’

“चलो, लौट चलो।”

“एक बात कहो, यदि वह पूजारी नहीं थे तो कौन था? किसके कहने पर मैं आप तक आया और आप से चर्चा कर रहा हूँ?”

“लौट चलो।” उसने उत्तर नहीं दिया। वह चलने लगी।

दोनों लौट आए मालन के स्थान पर।

मैं तो स्तब्ध था, अत: मौन हो गया। उसने भी मुझे अपने विस्मय के साथ छोड़ दिया कुछ समय के लिए।

“कितने धाम कर लिए?” उसने सहसा पूछा।

“चारों धाम।” मैं उठ गया और उसे गर्व के भाव से देखने लगा।

“कितने ज्योतिर्लिंग?”

"बारह के बारह।"

"और शक्तिपीठ कितने?"

"यह तैंतीसवाँ है।"

"कितनी नदियों में पाप धो चुके हो?"

"प्राय: सभी नदियों में स्नान कर चुका हूँ।"

"नदियों की गिनती नहीं की?"

"गिनती नहीं की है किन्तु होगी सौ दो सौ या उससे भी अधिक।"

"धामों की, ज्योतिर्लिंगों की, शक्ति पीठों की गिनती क्यों ..?"

"वो तो..।"

"आपने उन स्थानों की गिनती की, उनका स्मरण भी रखा। जानते हो क्यों?"

"कुछ छूट न जाए इसलिए।"

"छूटेगा तो तभी जब कुछ हाथ लगे।"

"मैं कुछ समझा नहीं।"

"इतने तीर्थों की यात्रा के पश्चात क्या हाथ लगा?"

क्षणभर में उन सभी तीर्थों की यात्रा का स्मरण हो आया मुझे।

मैंने स्वयं से पूछा, 'क्या हाथ लगा इन तीर्थों से?'

सहसा मैंने अपनी हथेलियों को देखा। वे खुली थी, खाली थी।

'क्यों नहीं लगा?' मैंने स्वयं से पूछा।

"उस प्रश्न का उत्तर भी आपको ही खोजना होगा। भक्त।" उसने कहा।

"कौन सा प्रश्न?" मैं जागृत हो गया। उसने मेरे भीतर उतरकर जैसे सब कुछ देख लिया हो, सब कुछ जान लिया हो।

"चलो छोड़ो उसे। छोड़ो इन मंदिरों को, ईश्वरों को, तीर्थों को और यह बताओ कि...।"

"क्यों छोड़ना है हमें इन सब को? प्रश्न, संदेह, जिज्ञासा इन्हीं सबकी तो है।"

"कभी कभी जीसे पाना चाहते हैं उसे पाने के लिए छोड़ना भी पड़ता है।"

“किन्तु....।”

“कुछ क्षण के लिए ही तो छोड़ना है उन्हें। छोड़ पाओगे?”

मेरे पास कोई विकल्प ही कहाँ था?

“नदी, पर्वत, जंगल, झरनें, मरुभूमि, सागर आदि में जाते हो तो कुछ अनुभूति होती है क्या?”

समय के उस खंड में जाकर मैं इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगा। मुझे वह सब कुछ स्मरण हो आया जिसमें मुझे अनहद का अनुभव हुआ था। मेरे मुख के भाव बदल गए। उसने उसे पढ़ लिया।

“उन स्थलों का समरण सुखद है न?” वह मुझे निहारने लगी।

“वहाँ जो अनुभूति हुई थी ऐसी अनुभूति मंदिरों में या तीर्थों में क्यों नहीं हो रही?”

उत्तर में उसने मुझे पुष्पों की एक माला धरते हुए कहा, “इस माला में कितने पुष्प हैं? जरा गिनकर तो बताओ।”

अनमन से मैंने माला ले ली और पुष्पों को देखते हुए गिनने लगा।

‘एक, दो, तीन, चार, ..., चौहत्तर।’

“इसमें चौहत्तर पुष्प हैं।”

“वाह, आप गिनती करना अच्छी तरह से जानते हो।”

“तो?” मैं भटक रहा हूँ ऐसा मुझे लगने लगा।

“मैं तुम्हें भटका नहीं रही हूँ, भक्त।”

मैंने उसे विचित्र भाव से देखा।

“व्याकुल मत हो। यही वह मार्ग है, जिस लक्ष्य को पाना चाहते हो वहाँ तक जाने का।”

उनके शब्दों पर श्रद्धा रखते हुए मैंने स्वयं को आश्वस्त किया, मन को स्थिर किया।

“इस माला के चौहत्तर पुष्पों में से कितने पुष्प किस रंग के हैं? कौन कौन से रंग के हैं? कौन से पुष्प की संख्या क्या है? उनकी सुगंध क्या है? किस पुष्प में सुगंध नहीं है?”

“वह तो मैंने ध्यान नहीं दिया।”

“क्यों?”

“आपने तो गिनती करने को कहा था?”

“यही गिनती ने आपको पुष्पों से भटका दिया। आपका पूरा ध्यान केवल गिनती पर ही था। पुष्पों पर, उनके रंगों पर, उनकी सुरभि पर नहीं। पुष्पों के ये गुण तो आपने अनुभव ही नहीं किए।” वह रुकी।

उसने पुष्पों की माला मेरे सामने रख दी। मैं उन्हें देखने लगा। मन ही मन पुष्पों के रंग और सुगंध का परीक्षण करने लगा। आकारों का भी निरीक्षण करने लगा।

‘हो सकता है वह अब पुष्पों के आकार के विषय में प्रश्न कर बैठे।’

जब तक मैं माला के पुष्पों पर ध्यान मग्न था, वह मौन रही, प्रतीक्षा करती रही।

“इस माला में लाल रंग..।”

“अब इसकी आवश्यकता नहीं है भक्त।”

“तो यह सारा उद्यम क्यों करवाया?”

“गिनती को भूलने के लिए।”

“क्या?”

“हाँ।”

“आप मेरे साथ कोई खेल खेल रही हो।”

“गिनती करना छोड़ दोगे तो ही पुष्पों के गुणों से परिचय कर पाओगे।”

“मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।” मैं उसे खाली मन से देखता रहा।

“तीर्थों की गिनती छोड़ दो। अनुभूति स्वयं प्रकट हो जाएगी।”

उसके शब्दों ने मेरे भीतर एक ज्योति जागा दी। जैसे भीतर की आँख खुल गई हो। मुख पर प्रसन्नता स्वत: उभर आई।

“हम मंदिरों में जाते हैं। कितने तीरथ कर लिए ऐसी गिनती में उलझ जाते हैं। ऐसे में ईश्वर के गुणों को जान ही नहीं पाते हैं, जैसे इन पुष्पों के रंग और सुगंध।”

क्षणभर मैं उसे देखता रहा। सहसा मैं वहाँ से चलने लगा।

“रुको, कहाँ जा रहे हो?”

“मंदिर।”

“क्या करोगे वहाँ जाकर?”

“दर्शन।”

“देखने जा रहे हो ईश्वर को।”

“एक ही बात है।”

“कभी उद्यान में गए हो?” उसने वही प्रश्न पूछा।

“अब इस प्रश्न का क्या अर्थ है?”

“बिना अर्थ के मैं बात नहीं करती कभी।”

मैंने उत्तर नहीं दिया।

“उद्यान में प्रवेश करने से पूर्व, पुष्पों को देखने से पूर्व क्या होता है?”

“उद्यान के वृक्ष के पत्तों की, फलों की, फूलों की सुगंध …।”

“किन्तु आपका ध्यान तो उस सुगंध पर पुष्पों को देखने के पश्चात ही जाता है। है न?”

“क्या इस बात का मंदिर से कोई संबंध है?”

“मदिर भी उद्यान ही है। भीतर ईश्वर की मूर्ति पुष्प है। उनके गुणों का अनुभव ही सुगंध है। यदि मंदिर में प्रवेश करने पर, ईश्वर को देखने के पश्चात भी ईश्वर के गुणों की सुगंध का अनुभव नहीं कर सकोगे तो अनुभूति कहाँ से होगी?”

मैंने उसे देखा। मेरी आँखों में नूतन तेज उभर आया। मेरे सारे संदेह निर्मूल हो गए। मन शांत हो गया। मन ही मन ईश्वर के गुणों का स्मरण करने लगा।

सहसा मैं पुन; मंदिर की तरफ जाने लगा। उसने मुझे पुन: रोक लिया।

“अब क्यों रोक रही हो?’

“मंदिर में तो भीड़ होती है।”

“तो?”

“वहाँ तो एक घड़ी भी दर्शन के लिए नहीं मिलती।”

“वो तो है। क्या कर सकता हूँ मैं?”

“भीड़ वाले मंदिरों में, तीर्थों में क्यों जाते हो?”

“सभी तीर्थों में ऐसा ही होता है।”

“अनेक मंदिर ऐसे भी हैं जहां अल्प संख्या में भक्त जाते हैं। ऐसे मंदिर में क्यों नहीं जाते?”

“ऐसा कोई मंदिर कहाँ?”

“है न?”

“कहाँ है?”

उसने पहाड़ी की उपत्यका की तरफ संकेत करते हुए कहा, “इस पहाड़ी से नीचे उतरने के मार्ग पर पहाड़ी की तलहटी से पूर्व एक मंदिर है।”

“किसका मंदिर है?”

“मंदिर ईश्वर के ही होते हैं।”

“कौन से ईश्वर का?”

“कौन से ईश्वर की खोज में हो?”

इस प्रश्न ने मुझे भीतर से विचलित कर दिया।

‘आज तक मैं कहाँ जान पाया हूँ कि किस ईश्वर की खोज में मैं मंदिरों में और तीर्थों में भटक रहा हूँ?’

“जब जा रहे हो तो स्वयं उस ईश्वर से मिल लेना।”

उसकी बात मुझे उचित लगी।

मैं पहाड़ी की तरफ चलने लगा।

एक और बार उसने मुझे रोका।

“अब क्या?”

“मंदिर के गर्भगृह में जाकर बैठना। सब कुछ वहीं मिल जाएगा।”
“मुझे मार्ग दिखाने के लिए धन्यवाद। अब मैं जा सकता हूँ क्या?”
इस बार मालन ने मुझे नहीं रोका, स्मित भी दिया।
मैं पहाड़ी उतरने के लिए आगे बढ़ गया। थोड़े चरण चलने पर मुझे स्मरण हुआ - मालन से मैंने उनका नाम तक नहीं पूछा।
‘जाकर पूछ लेता हूँ।’
‘अब लौटकर नाम पूछना अविनय होगा।’ मैंने विचार त्याग दिया। आगे बढ़ गया। किन्तु मालन को एक बार देखने को मन हो आया। मिलने का लालच हो आया।
‘उसकी बातों में, उसके व्यक्तित्व में, उसके तर्कों में कुछ अद्भुत था। किन्तु अब लौटूँ कैसे?’
इस प्रश्न को लेकर मैं नीचे नीचे उतर रहा था और मन ऊपर ऊपर मालन की तरफ जा रहा था।
सहसा मेरे चरण रुक गए।
‘ईश्वर को अर्पण करने के लिए कोई माला या पुष्प लेने के बहाने एक बार मालन से मिल लेता हूँ।’ अपने विचार पर प्रसन्न होकर मैं मालन की तरफ मूड़ा।
“क्या?” मेरे मुख से चीख निकाल गई। आँख जो देख रही थी उसे मानने को मन तैयार न था।
वहाँ न तो कोई मालन थी, न पुष्पों को टोकरी थी, न माला थी और न ही वह पत्थर जिस पर मैं बैठा था, मालन से बातें कर रहा था। वहाँ कुछ भी नहीं था। कुछ भी नहीं।
अनायास ही मैं उस स्थान की तरफ दौड़ पड़ा। वहाँ केवल मिट्टी थी, और कुछ नहीं। मैंने चारों दिशाओं में देखा। कहीं भी कोई नहीं था। सारी भीड़ से मैं कहीं दूर था।
मैं उस स्थान को ध्यान से देखने लगा। सहसा मुझे एक पुष्प दिखा।
‘यह पुष्प तो माला के मध्य में था।’

उसकी सुगंध स्वत: मेरे भीतर उतरने लगी।
मैं झुका, वहीं बैठ गया। पुष्प उठाया और अनिमेष उसे देखता रहा। देखते देखते मेरी आँखें बंद हो गई। उसके पश्चात क्या हुआ मैं नहीं जानता।

सम्पन्न

